रामचन्द्रशुक्ल और ऐ.ए. रिचर्ड्स के समीक्षा – सिद्धांत - एक तुलनात्मक अध्ययन

RAMACHANDRA SHUKLA AUR I.A. RICHARDS KE SAMIKSHA SIDHANT - EK THULANATMAK ADHYAYAN

Thesis submitted to the

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

for the degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

By

CHITHRA N.R.

Supervising Teacher

Dr. M. EASWARI

Professor & Head

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI-682022

1995

CERTIFICATE

This is to certify that this THESIS is a bonafide work carried out by CHITHRA N.R., under my supervision for Ph.D, and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology
Kochi-682 022

Dated: 16-2-'95

Dr. M. EASWARI
Professor and
Head of the Department
(Supervising Teacher)

DECLARATION

I hereby declare that the thesis entitled **'RAMACHANDRA SHUKLA AUR I.A. RICHARDS KE SAMIKSHA SIDHANT - EK THULANATMAK ADHYAYAN'** has not previously formed the basis of any degree, diploma, associateship, fellowship or other similar title or recognition.

Chithra.N.R

CHITHRA .N.R.

Dept.of Hindi,
Cochin University of
Science and Technology,
Cochin - 682 022.

Date: 16-2-'95

-I-

उपोद्घात

प्रतिभा और क्षमता से संपृक्त कला ही समीक्षा है । यह किसी वस्तु, रचना या विषय के संबंध में सम्यक् ज्ञान और उससे संबद्ध तत्वों का विवेचन है । साहित्य में सृजनात्मक प्रतिभा का सा महत्व आलोचनात्मक प्रतिभा का भी है । सर्जक और ग्राहक के बीच की कडी है आलोचक । आलोचना का क्षेत्र अनंत है । जीवन और जगत् के समस्त विषय और वस्तुएँ इसके अंतर्गत आती हैं । यदि रचना का सीधा संबंध मानव जीवन और यथार्थ से है तो आलोचना का संबंध परिवेश और रचना के माध्यम से उभरे जीवनबोध की अभिव्यक्ति से है । यह कलाकृति की तह तक पहुँचने का सफल उपक्रम है । रचना की संवेदना का विश्लेषण ही नहीं, रचना-प्रक्रिया का आकलन और मूल्यांकन भी समीक्षक का कार्य है । एक सफल समीक्षक अपनी वैयक्तिक रूचियों की सीमा को भी लाँघकर सामाजिक संदर्भों में कृति का मूल्यांकन करता है । अमुक रचना का समग्र अध्ययन एवं सूक्ष्म निरीक्षण करने के बाद कभी कभी वह रचनाकार के कमज़ोर पक्ष पर भी प्रकाश डालता है ।

काव्य और कला युगीन चिंतन-प्रभाव से अस्पृष्ट नहीं रहता । कवि के व्यक्तित्व के अंत:स्तल में आलोचक का स्वरूप दृष्टिगत होता है । साहित्यकार हमेशा नवीनता के आग्रही है । प्रत्येक युग में जीवन के साथ ही साहित्य के स्वरूप और दृष्टि में भी परिवर्तन आता है । साहित्य संस्कृति की उपज है, भाषा की संतान है । अत: उसके विकास में

विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा सांस्कृतिक पहलुओं का योगदान रहता है । जाने या अनजाने साहित्यिक जगत् में एक भाषा का प्रभाव दूसरी भाषा पर पड़ता है या एक सर्जक का प्रभाव दूसरे सर्जक पर पड़ता है ।

आधुनिक समीक्षा, समन्वयशील है । वह स्वतंत्र-चिंतन, उदार-दृष्टिकोण और तत्वोन्मेषी मनोवृत्ति का परिणाम है । आधुनिक साहित्य में खासकर अनुसंधान के क्षेत्र में तुलनात्मक अनुसंधान एक नया आयाम है । तुलना, व्याख्या और विश्लेषण इसके महत्वपूर्ण पहलुएँ हैं । साहित्य भाषाधिष्ठित एवं भावाविष्कृत होता है । प्रत्येक भाषा के साहित्य के अपने विशेष गुण, स्वभाव तथा परंपरा होते हैं । लेकिन गहराई से विचार करने पर, साहित्य की मूल सत्ता एक है जो देश, काल और भाषा की सीमाओं से परे है । साहित्य में निहित इस मूल चेतना को पहचानना तुलनात्मक अनुसंधान का धर्म है । संसार की कोई भी भाषा अन्य भाषा से प्रेरणा पाये बिना विकास पा नहीं सकती । ऐसी कोई भी भारतीय भाषा नहीं, जिस पर हिन्दु पुराण, वेद, संस्कृत साहित्य और पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव नहीं पड़ा है । तुलनात्मक अनुसंधान से विभिन्न भाषाओं के साहित्यिक विकास तथा विश्व-साहित्य की मौलिक उपलब्धियों की जानकारी प्राप्त होती है । "नानात्व में एकत्व" पर ज़ोर देते हुए विभिन्न साहित्यों के सार्वलौकिक स्वभाव की परख ही तुलनात्मक अनुसंधान का लक्ष्य है । भारतीय साहित्य के विकास में, पाश्चात्य साहित्य की अनेक नई प्रवृत्तियों का विशेष प्रभाव दृष्टिगत होता है । इस तुलनात्मक

अध्ययन का प्रेरणा-स्रोत भी यह है । रामचन्द्रशुक्ल और ऐ.ए. रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन इसलिए यहाँ प्रासंगिक है ।

आधुनिक समीक्षा का अध्ययन करते हुए मैं ने अनुभव किया कि हिन्दी के मूर्धन्य समीक्षक पं. रामचन्द्रशुक्ल अपनी तटस्थ, सूक्ष्म एवं पैनी समीक्षात्मक दृष्टि के कारण संसार के किसी भी आलोचक से कम नहीं । इस धारणा ने अंग्रेज़ी के प्रखर आलोचक ऐ.ए. रिचर्ड्स से उनकी तुलना करने की प्रेरणा मुझे दी । यह शोध प्रबन्ध इसी प्रेरणा का परिणाम है । शुक्लजी और रिचर्ड्स अपनी अपनी भाषा के मूर्धन्य समीक्षकों के रूप में विख्यात हैं । ये समकालीन हैं और इनके समीक्षा-सिद्धांतों में काफी समानताएँ हैं । इनके समीक्षा -सिद्धांतों के कतिपय पक्षों पर चर्चाएँ हुई हैं, परंतु अभी तक इसका सांगोपांग निरीक्षण किसी ने नहीं किया है । अतः इन दोनों समीक्षकों के समीक्षा-सिद्धांतों की तुलना के विस्तृत अध्ययन का विनीत प्रयास है - "रामचन्द्रशुक्ल और ऐ.ए. रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांत-एक तुलनात्मक अध्ययन" नामक प्रस्तुत शोध प्रबन्ध ।

शुक्लजी के समीक्षा-सिद्धांत मुख्यतः उनके दो ग्रंथों में संकलित हैं - "रसमीमांसा" तथा "चिंतामणि - भाग §1§ §2§ और §3§ ।

इसी तरह रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांतों का प्रतिपादन मुख्य रूप से उनके "द प्रिंसिपिल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज़्म", "प्राक्टिकल क्रिटिसिज़्म", "द फाऊण्डेषनस ऑफ ऐस्थटिक्स" तथा "द मीनिंग ऑफ मीनिंग" नामक चार ग्रंथों में हुआ है । इन ग्रंथों के आधार पर मैं ने अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है । दोनों समीक्षकों के सिद्धांतों की तुलना में उनके साम्य पक्ष पर अधिक ज़ोर दिया गया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय गहरा और विस्तृत है । कम से कम पृष्ठों में इसका प्रतिपादन संभव नहीं । फिर भी मेरा विश्वास है कि मैं ने विषय से यथासंभव न्याय करने की चेष्टा की है ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध पाँच अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय में भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास का बहुत संक्षिप्त परिचय देते हुए इसके अंतर्गत विशेष रूप से रामचन्द्रशुक्ल के जीवन-परिचय, व्यक्तित्व एवं रचना-विधान पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी समीक्षा के विकास में शुक्लजी के योगदान पर विचार किया गया है । उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा और व्यक्तित्व के रूपायन में भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यकारों के योगदान का भी उल्लेख हुआ है ।

रिचर्ड्स की बहुमुखी प्रतिभा की व्याख्या तथा उनके जीवन-संबंधी तथ्यों का समालोचन इस शोध प्रबंध का दूसरा अध्याय है । इसमें पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का संक्षेप में अवलोकन करते हुए, ऐ.ए. रिचर्ड्स की सर्जनात्मक प्रतिभा के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला गया है । उनके व्यक्तित्व के विकास में अन्य साहित्यकारों के योगदान की चर्चा भी इसमें की गयी है ।

समीक्षा के संबंध में शुक्लजी के विचारों का व्यापक और गहरा अध्ययन तीसरे अध्याय में हुआ है । इसमें शुक्लजी के समीक्षा-सिद्धांतों का विश्लेषण करते हुए काव्य-संबंधी उनकी मान्यताओं पर भी विस्तार से विचार किया गया है ।

रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांतों का सटीक अध्ययन, इस शोध-प्रबंध का चौथा अध्याय है । इसमें काव्य और कला संबंधी उनके दृष्टिकोण पर गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

शुक्लजी और रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांतों की तुलना, इस शोध प्रबंध का पाँचवाँ अध्याय है । शुक्लजी और रिचर्ड्स की मौलिक

उपलब्धियाँ, सिद्धांत-निरूपण में उनकी समानता आदि इस अध्याय का वर्णित विषय हैं ।

उपसंहार में उपर्युक्त पाँचों अध्यायों में प्रस्तुत विचारों के परिप्रेक्ष्य में निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है ।

इस शोधकार्य के प्रेरक और प्रोत्साहक परमादरणीय डॉ. रामचन्द्रदेव हैं । उन्हीं के प्रकांड वैदुष्य से प्रेरित होकर मैं ऐसे एक विषय की ओर आकृष्ट हुई और काम शुरू किया । उन्हीं का स्नेह और आशीर्वाद सदा मेरा संबल रहा है । मैं उनके प्रति हमेशा आभारी हूँ ।

इस अनुसंधान की राह पर चलने में मेरी मार्गदर्शिका रही है कोचीन विश्वविद्यालय की हिन्दी-विभाग की अध्यक्षा आदरणीय डॉ. एम. ईश्वरी जिनके निर्देश और निरंतर प्रोत्साहन से मैं अपने विषय का विवेचन प्रस्तुत कर सकती हूँ । मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ ।

हिन्दी विभाग के मेरे पूज्य अध्यापकों के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ, जिनके स्नेहाश्रय तथा आशीर्वाद से मेरा श्रम अत्यंत सुखद रहा ।

पुस्तकालय की अध्यक्षा श्रीमती कुंजिक्कावुकुट्टि तंपुरान, और सहायक श्री आन्टणी के प्रति भी मैं आभारी हूँ ।

चित्रा. एन. आर

हिन्दी विभाग,
कोचिन विज्ञान व
प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय,
कोच्चि - 682022.

तारीख

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ-संख्या

अध्याय - एक 1 - 40

भारतीय काव्य-शास्त्र और रामचन्द्रशुक्ल

भारतीय काव्य-शास्त्र का संक्षिप्त परिचय - भरत् - भामह - दंडी - वामन - रूद्रट - उद्भट - आनंदवर्धन - अभिनवगुप्त - राजशेखर - कुन्तक - भोजराज - मम्मट - क्षेमेन्द्र - विश्वनाथ - पंडितराज जगन्नाथ - मध्यकालीन समीक्षा - रीतिकालीन समीक्षा - आधुनिक समीक्षा - शुक्लजी - जीवन परिचय एवं साहित्य साधना - प्रारंभिक जीवन - शिक्षा एवं शादी - प्रभाव - नौकरी - शुक्लजी की बहुमुखी प्रतिभा - कवि शुक्ल - निबंधकार शुक्ल - इतिहासकार शुक्ल - समीक्षक शुक्ल - अनुवादक शुक्ल - संपादक तथा अध्यापक - कहानीकार और नाटककार - निष्कर्ष ।

अध्याय - दो 41 - 67

पाश्चात्य काव्य - शास्त्र और रिचर्ड्स

यूनानी समीक्षा - प्लेटो - अरस्तू - लोंइजनस - रोमन समीक्षा - पुर्नजागरण युग - नव्यशास्त्र युग - स्वच्छंदतावादी समीक्षा - बीसवीं शताब्दी - आलोचना -

पृष्ठ संख्या

ऐ.ए. रिचर्ड्स - व्यक्तित्व और कृतित्व -
जीवन -परिचय और रचना - संसार - समीक्षा -
कविता - नाटक - अन्य रचनाएँ - उपाधियाँ -
निष्कर्ष ।

अध्याय - तीन 68 - 103

आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत

समीक्षा - शुक्लजी के दृष्टिकोण में - रसवादी आलोचक
शुक्ल - रसावयव - भावपक्ष - भाव की तीन दशाएँ -
भाव-दशा - स्थायी-दशा - शील-दशा - भावों का
वर्गीकरण - स्थायी-भाव - संचारी भाव - अनुभाव - विभाव-
आलंबन - आश्रय - उद्दीपन - रस-निष्पत्ति - साधारणीकरण -
रस-दशा - रस की कोटियाँ - उत्तम कोटि - मध्यम कोटि -
निकृष्ट कोटि - रसात्मक बोध के स्तर- कल्पित रूपविधान -
प्रत्यक्ष रूपविधान - स्मृत रूपविधान - काव्य-संबंधी
मान्यताएँ - रसानुभूति और काव्यानुभूति - रसानुभूति
और जीवनानुभूति - रसानुभूति और सौंदर्यानुभूति -
रसानुभूति की उपाधियाँ - भाषा - अर्थ विवेचन - छंद और
लय - अलंकार - बिंब एवं प्रतीक - काव्य का उद्देश्य तथा
प्रयोजन - लोकमंगल - निष्कर्ष ।

पृष्ठ संख्या

अध्याय - चार 104 - 141

रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांत

काव्य-संबंधी मान्यताएँ - कविता की परिभाषा - काव्य में कल्पना - काव्यानुभूति या सौंदर्यानुभूति - काव्यानुभूति और जीवनानुभूति - काव्यानुभूति का विश्लेषण - संबद्ध बिंब - स्वतंत्र बिंब - आवेग और अभ्युद्देशन - भाव तथा अभिवृत्ति - समीक्षा-संबंधी मान्यताएँ - समीक्षक का दायित्व और उसकी योग्यताएँ - समीक्षा के आधार - स्तंभ - आलोचनात्मक पक्ष - कलात्मक मूल्य - मूल्य का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत - मूल्य की मनोवैज्ञानिक परिभाषा - संप्रेषण-सिद्धांत - कलाकार को संप्रेषण के लिए आवश्यक गुण - प्राविधिक पक्ष - अर्थ - मीमांसा - लय और छंद - प्रतीक और बिंब - अलंकार - काव्य का प्रयोजन - निष्कर्ष ।

अध्याय - पाँच 142 - 180

शुक्लजी और रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांत - एक तुलना

कविता की परिभाषा - काव्यानुभूति का स्वरूप - काव्यानुभूति और काव्यास्वाद - साधारणीकरण या

पृष्ठ संख्या

संप्रेषण - कला जीवन के लिए - काव्य में सौंदर्य - काव्य में कल्पना - काव्य में बिंब - काव्य में नैतिकता - आलोचना की भाषा - शैली - समीक्षात्मक दृष्टिकोण - निष्कर्ष ।

उपसंहार 181 - 187

संदर्भग्रंथानुक्रमणिका 188 - 203

अध्याय - एक

भारतीय काव्य-शास्त्र और रामचंद्रशुक्ल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

अध्याय - एक

भारतीय काव्य-शास्त्र और रामचन्द्र शुक्ल

भारतीय काव्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय

काव्य, सौन्दर्य की उपज है । कवि उस सौन्दर्य का स्रष्टा, द्रष्टा और भोक्ता है । सौन्दर्य का संप्रेषण वह अपनी रचना में करता है । समर्थ सर्जक अपनी सौन्दर्यात्मक अनुभूतियों को विभिन्न काव्य-प्रतिमानों के ज़रिए सहृदय तक पहुँचाता है । वही काव्य सफल कहा जा सकता है जो सर्जक की अनुभूतियों और संवेदनाओं को उसी रूप और मात्रा में सहृदय पाठकों तक संप्रेषित कर सके । सर्जक से सहृदय तक के अनुभूति-प्रसारण के संदर्भ में कई उपादान काम आते हैं, जिनमें काव्य-शास्त्र का अपना स्थान है । काव्य-शास्त्र के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन के द्वारा कविता के मर्म तक पहुँचने का रास्ता सुगम हो जाता है ।

काव्य के व्यवहार-सम्मत सैद्धांतिक विवेचन का नाम ही काव्य-शास्त्र है । भारतीय काव्य-शास्त्र की परंपरा संस्कृत भाषा और साहित्य की ऋणी है । यद्यपि संस्कृत काव्य-शास्त्रों में उल्लिखित कृताश्व, बृहस्पति शिलास, मेधाविन, कश्यप, नंदिकेश्वर आदि पूर्ववर्ती आचार्यों का नाम पाया तथापि उनकी प्रामाणिक कृतियाँ उपलब्ध नहीं । वस्तुत: संस्कृत में काव्य-शास्त्र संबंधी जो मान्यताएँ उपलब्ध हैं, उनका इतिहास आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र" से शुरू होता है ।

-

भरत (दूसरी शती)

आचार्य भरत, संस्कृत साहित्य चिन्तन परंपरा के प्रवर्तक आचार्य हैं । उनका "नाट्यशास्त्र" भारतीय काव्य-शास्त्र का सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रंथ है । इस ग्रंथ में मुख्यतः रूपकों के सिद्धांत की विवेचना हुई है, पर उसमें काव्य-शास्त्र का भी प्रतिपादन हुआ है । नाटक में काव्यत्व लानेवाले तत्वों के प्रसंग में उन्होंने रस की विस्तृत चर्चा की है । भरत नाट्यगत रस-तत्व के प्रबल समर्थक थे । उनकी दृष्टि में रसोत्पत्ति नाट्य का प्रमुख उद्देश्य है ।[1] रस का माहात्म्य निरूपित करते हुए उन्होंने लिखा है कि रसभाव में किसी भी काव्य की किसी भी अर्थ की स्थिति नहीं मानी जा सकती ।[2] वे रस और भावों का अंतर्संबंध मानते थे । उनके अनुसार न रस भावहीन होता है, और न भाव ही रसवर्जित होता है । भाव और रस एक दूसरे का भावन करते हैं । सभी रस मूल रूप में स्थित रहते हैं और उनसे भावराशि व्यवस्थित की जाती है । उनके विचार में भाव, नाट्योक्तियों द्वारा अनेक प्रकार के अभिनय से रस रूप में परिणत होते हैं । इस प्रसंग में उन्होंने आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक नाम के चार नाट्य-संश्रयों का उल्लेख किया है ।[3] वे रस को अलौकिक मानते थे । "नाट्यशास्त्र" में विभिन्न रसों के भाव, विभाव, अनुभाव[4] तथा व्यभिचारी भावों के लक्षण और उदाहरण भी उन्होंने प्रस्तुत किये हैं । रस के सामान्य विवरण के अतिरिक्त उन्होंने अलंकार, काव्य-गुण, काव्य-दोष,

---

1. भरत - नाट्यशास्त्र - पृ. 92
2. नहि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते - वही - 6/26
3. नाट्यशास्त्र - 6/35-9
4. नाट्यशास्त्र - 1/62.

काव्य-प्रयोजन आदि की भी चर्चा की है । अलंकार को काव्य की शोभा-वृद्धि में सहायक तत्व मानते हुए उन्होंने उपमा, रूपक, दीपक और यमक नाम के चार अलंकारों का उल्लेख किया है ।[1] काव्यार्थ गुणों के पृथक लक्षण निर्धारित करते हुए रस-संश्रय की दृष्टि से उनके प्रयोग पर भी उन्होंने विशेष ज़ोर दिया है ।[2] उनकी दृष्टि में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, लोकोपदेश, विश्राम, बुद्धिविलास, नैतिक शिक्षा, हित एवं विनोद काव्य के प्रयोजन हैं ।[3] परवर्ती अनेक आचार्यों ने भरत के सिद्धान्तों के आधार पर अपना रस-विवेचन प्रस्तुत किया ।

भामह (छठी शती)

भरत के उपरान्त, काव्य-शास्त्रीय परंपरा के अनेक उज्ज्वल उन्नायक हुए हैं । उनमें प्रमुख हैं आचार्य भामह । ये रस-संप्रदाय के प्रथम विरोधी थे । अलंकार ही उनका प्रतिपाद्य है जिनपर उन्होंने "काव्यालंकार" की रचना की । उनके अनुसार अलंकार ही काव्यात्मा है । रस, सशक्त, ओजस्विन, प्रेयस अलंकारों में अंतर्हित है । उन्होंने अलंकार-निर्णय के साथ काव्य-लक्षण, काव्य-साधन, काव्य-प्रशंसा, काव्य-भेद, काव्य-दोष, काव्य-गुण आदि विषयों पर अपने स्वतंत्र विचार प्रस्तुत किये हैं । उनके अनुसार शब्द और अर्थ का संयोग ही काव्य है ।[4] इस दृष्टि से शास्त्र, इतिहास, गद्य, पद्य आदि काव्य के भेद हैं । भामह, काव्य के लिए अलंकारों का अभिनिवेश

---

1. नाट्यशास्त्र - 16/44
2. वही - 16/22
3. वही - 1/140-120
4. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् - काव्यालंकार - भामह - 1/16

सभी दृष्टियों से वाँछनीय मानते थे ।[1] उन्होंने वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल आधार माना ।[2] "रसवत्" अलंकार के रूप में रस की महत्ता को भी उन्होंने स्वीकार किया और रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्व माना ।[3] काव्य-सर्जन के लिए कवि के महत्वपूर्ण साधन के रूप में उन्होंने प्रतिभा को अनिवार्य माना ।[4] काव्य-दोषों की चर्चा के प्रसंग में उन्होंने कहा कि कवियों के गुण-दोषों का सम्यक् विवेचन करने के पश्चात् ही काव्य-रचना में रस होना चाहिए ।[5] उनके विचार में प्रीति, कीर्ति तथा चतुर्वैगफलप्राप्ति काव्य के प्रयोजन हैं ।[6] दण्डी, वामन, उद्भट, विश्वनाथ आदि काव्य शास्त्र के आचार्य उनके ऋणी हैं ।

दंडी (7वीं शती)

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के अलंकरणों और गुण-दोषों का महत्व समझाने का प्रयत्न बाद में दंडी ने अपने "काव्यादर्श" में किया । दंडी पदलालित्य रसिक थे । वे काव्य में शब्दार्थमयता की

---

1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् - काव्यालंकार - भामह - 1/13
2. वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति - वही - 1/36
3. वही - 1/21
4. काव्य तु जायते जातु कस्यांचित प्रतिभावतः - वही - 1/5
5. काव्यालंकार - भामह - 1/59
6. धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च
   करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्य निबंधनम - वही - 1/2

अनिवार्य स्थिति के प्रबल समर्थक थे । उनके विचार में अभीष्ट अर्थ से संपृक्त पदावली ही काव्य है ।[1] रचना-विधान तथा क्रिया-कल्प का सम्यक् निबंधन काव्य की सफलता का आधार है । उनके काव्यशास्त्रीय चिन्तन की विशिष्टता यह है कि सबसे पहले उन्होंने गुणों को रीति से संबद्ध करके उसकी गरिमा बढ़ा दी । उनका अलंकार-संबंधी दृष्टिकोण व्यापक है । उनकी राय में अलंकार काव्य का सहज गुण है ।[2] काव्य का सौन्दर्य उस पर निर्भर है । विभिन्न अलंकारों के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास उन्होंने किया है । नाट्य-तत्वों को भी उन्होंने अलंकार के अंतर्गत समाहित किया । अलंकारवादी होने पर भी रस की हृदयस्पर्शिता और काव्य में रस की उत्कृष्टता उन्हें मान्य थी ।[3] कवि-कर्म की सफलता के लिए उन्होंने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को आवश्यक माना ।[4] गद्य, पद्य और चंपू नामक काव्य के तीन भेद मानते हुए उन्होंने नाटक को मिश्र या चंपू के अंतर्गत माना । उनके विचार में ज्ञान-प्राप्ति ही काव्य का लक्ष्य है ।[5]

वामन (8 वीं शती)

आचार्य वामन ने अलंकारों का निराकरण करते हुए रीति को काव्यात्मा माना । अपने सिद्धांत-ग्रंथ "काव्यालंकारसूत्र" में "रीतिरात्मा काव्यस्य" कहकर उन्होंने रीति को काव्य के प्राण तत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया ।[6]

---

1. काव्यादर्श - दंडी प्रथम - 100
2. काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारानप्रचक्षते - वही - 2/1
3. काव्य सर्वोरप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति - काव्यादर्श - दंडी 1/62
4. वही - 1/103
5. वही - 1/14
6. काव्यालंकारसूत्र - वामन - 1/2/6

वस्तुतः वे दंडी के मत से भिन्न नहीं थे । उनकी राय में शब्द और अर्थगत चमत्कार से युक्त (विशिष्ट) पद-रचना ही रीति है ।[1] पदों में वैशिष्ट्य गुणों के कारण आता है ।[2] इस प्रकार उन्होंने रीति को गुणों पर आश्रित किया । रीति के तीन वर्ग उन्होंने किये - वैदर्भी, गौडी और पाँचाली ।[3] अलंकार को वे सौन्दर्य का पर्याय मानते थे ।[4] अलंकार काव्य में उत्कर्ष प्रदान करनेवाला साधन है । काव्य में रस का स्थान निरूपित करते हुए उन्होंने रस को गुण के अंतर्गत समाहित कर दिया ।[5] प्रतिभा को कवित्व का बीज मानकर काव्य-हेतु पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है । उनके विचार में प्रीति और कीर्ति काव्य के मुख्य प्रयोजन हैं ।[6]

रुद्रट (9 वीं शती)

रुद्रट अलंकारशास्त्र के महान पंडित थे । उनका "काव्यालंकार" मुख्यतः अलंकार-विवेचन का ग्रंथ है । इसमें वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष नामक अलंकारों के रूप में सर्वप्रथम उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से अलंकारों के विभाजन का स्तुत्य कार्य किया ।[7] अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित

---

1. काव्यालंकारसूत्र - वामन - 1/2/7
2. वही - 1/2/6
3. वही - 1/2/9
4. सौन्दर्यमलंकारः - 1/2/1
5. वही - 4/2/1
6. काव्यालंकारसूत्र - वामन - 1/1/5
7. काव्यालंकार - रुद्रट - 7, 9

काव्य-स्वरूप, काव्य-भेद, काव्य-प्रयोजन, रस-विमर्श आदि विषयों का सैद्धांतिक एवं शास्त्रीय विश्लेषण भी उन्होंने किया है । उनकी मान्यता के अनुसार शब्दार्थ के योग से काव्य की अभिव्यक्ति होती है ।[1] काव्य में रस की प्रमुखता भी उन्हें स्वीकार्य थी । काव्य की रमणीयता, उसका केन्द्रीय तत्व रसात्मकता पर निर्भर है । उनकी राय में रसाभाव में काव्य नीरस और निस्पंद बन जाता है ।[2] काव्य के पूर्वनिर्धारित प्रयोजनों के अतिरिक्त धनप्राप्ति, विपत्तिनाश और अलौकिक आनंद को भी वे काव्य के प्रयोजन मानते थे ।[3]

उद्भट ‹ 9 वीं शती पूर्वार्द्ध ›

भरत और भामह से प्रभावित आचार्य हैं उद्भट । वे अलंकार-संप्रदाय के समर्थक आचार्य हैं । उन्होंने दृष्टांत, काव्यलिंग और पुनरुक्तवदाभास नामक अलंकारों की कल्पना की तथा अनुप्रास के भेदों में दृष्टि की । शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष के रूप में श्लेष अलंकार का भेद-निरूपण उन्होंने किया । उन्होंने रस को प्रेयस, रसवत् और ऊर्जस्विन नामक तीन अलंकारों में समन्वित किया । वे शांत रस के उपज्ञाता हैं ।

आनंदवर्धन ‹ 9 वीं शती ›

आनंदवर्धन, ध्वनि-सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य हैं । यद्यपि

---

1. ननुशब्दार्थौ काव्यम् - काव्यालंकार - रुद्रट -
2. वही - 51/21
3. वही - 1, 4, 1, 6.

काव्य की ध्वनि के महत्व का प्रतिपादन पूर्ववर्ती कतिपय काव्य-शास्त्रियों ने किया था, तथापि आनंदवर्धन ने ही सर्वप्रथम "ध्वन्यालोक" में काव्य के आत्म-तत्व के रूप में ध्वनि की प्रतिष्ठा की ।[1] ध्वनि शब्द अत्यंत व्यापक है । उसमें शब्द और अर्थ तथा उन दोनों के अर्थ समाविष्ट रहते हैं । उनकी राय में काव्य में प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) को ही उसका सर्वस्व आत्मतत्व समझना चाहिए । व्यंग्यार्थ के महत्व की दृष्टि से उन्होंने ध्वनि काव्य को उत्तम काव्य माना ।[2] रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए भाव, रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य आदि काव्य-तत्वों को उसके संगम स्थान पर बिठाकर परस्पर विरुद्ध विभिन्न मतों का सामंजस्य उन्होंने स्थापित किया । काव्य निर्माण में उन्होंने व्युत्पत्ति और प्रतिभा को आवश्यक माना ।[3] आनंद प्रदान करना काव्य की मुख्य उपादेयता है ।[4] अतः सहृदय को आह्लाद देनेवाला शब्दार्थ ही उनकी राय में काव्य है ।[5]

अभिनवगुप्त (10 वीं शती का अंत)

रस-सूत्र के व्याख्याता के रूप में काव्य-शास्त्र में अभिनवगुप्त का महत्वपूर्ण स्थान है । यद्यपि ध्वनि-संप्रदाय के प्रवर्तक आनंदवर्धन हैं, तथापि

---

1. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य - ध्वन्यालोक - 1/1- आनंदवर्धन
2. ध्वन्यालोक - आनंदवर्धन - 2/4
3. वही - 3/6 - वृत्ति
4. तेनब्रूम सहृदयमनस प्रीतये तत्स्वरूपम् - वही - 1/4
5. सहृदयह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् - ध्वन्यालोक - आनंदवर्धन - वृत्तिभाग -

इसे पूर्णतः पल्लवित एवं विकसित करने का श्रेय आचार्य अभिनवगुप्त को है । वे एक प्रतिभाशाली कवि और आचार्य के अतिरिक्त उच्चकोटि के दार्शनिक भी थे । नाट्य-शास्त्र तथा काव्य-शास्त्र पर उनके मतों को परवर्ती आचार्यों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया । "अभिनव-भारती" नाम से उन्होंने "नाट्यशास्त्र" की टीका लिखी । "ध्वन्यालोक" पर उनकी प्रसिद्ध टीका है "ध्वन्यालोक लोचन" । इसमें उन्होंने निर्विवाद ढंग से यह स्थापित कर दिया कि ध्वनिवादियों की व्यंजना-शक्ति से ही रस- की अभिव्यक्ति शक्ति को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है । क्योंकि रस, भाव आदि का बोध व्यंग्य रूप में हुआ करता है । अतः उन्होंने रस तथा ध्वनि के सिद्धांतों में अंतः संबंध स्थापित कर दिया । उन्होंने यह घोषित किया कि काव्य, रस के द्वारा प्राणवान रहता है और रस के अभाव में काव्य, काव्य नहीं कहा जा सकता ।[1] उनकी उल्लेखनीय उपलब्धि यह है कि उन्होंने पूर्णतः मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक धरातल पर नाट्य-रस एवं काव्य-रस की रमणीयता का पुष्टीकरण किया । उन्होंने कहा कि काव्य की आत्मा निःसंदेह ध्वनि है । किन्तु मात्र ध्वनि ही काव्य का सर्वस्व नहीं, उसमें शब्दार्थ गुणालंकार संयुक्त रसात्मकता का चारूत्व नितांत अपेक्षित है । अतः रसध्वनि को उन्होंने काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया । उनकी प्रगल्भ व्याख्या के परिणामस्वरूप ध्वनि-संप्रदाय अधिक शक्त और प्रबल बन गया । उन्होंने रस, ध्वनि और औचित्य को प्रमुखता दी । अलंकार की उपादेयता भी उन्होंने औचित्य में मानी । औचित्य के अभाव में काव्य, काव्याभास, बन जाता है ।[2]

---

1. रसेनजीवति सर्व काव्यं - अभिनवगुप्त
2. ध्वन्यालोकलोचन - अभिनव गुप्त - पृ. 73

राजशेखर (सन् 880-920 ई)

यद्यपि भारत के नाट्यशास्त्र के साथ आलोचना का सूत्रपात हुआ, तथापि उसका वास्तविक स्वरूप राजशेखर की "काव्य-मीमांसा" में पहली बार प्रस्फुटित हुई । "काव्य-मीमांसा" में उन्होंने आलोचक के स्वरूप और योग्यता का प्रौढ़ एवं सैद्धांतिक निरूपण किया । वे आलोचक को प्रतिभावान होना आवश्यक मानते हैं । उनके मत में सृजनात्मक रचनाकार के लिए कारयित्री प्रतिभा का होना जितना आवश्यक है उतना आलोचक या भावक के लिए भी । इस प्रकार उन्होंने कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का सामंजस्य स्थापित कर दिया । आलोचक कवि का पथ प्रदर्शक है । कवि की प्रशंसा के साथ उसके दोषों का निवारण भी वह करता है । अपनी प्रतिभा द्वारा कवि के सृजन को प्रत्यक्ष करके उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना, कवि-कल्पना को पूर्णत: आत्मसात कर लेना, उसके तात्पर्य एवं शब्द-गुम्फन के रहस्य को समझना तथा रसास्वाद करना आलोचक के प्रधान कार्य हैं । तटस्थता एवं निरपेक्षता के साथ, काव्य के वर्ण्य-विषय से तन्मय होकर, उसकी उत्कृष्टता का मूल्यांकन वह करता है । राजशेखर ने सहृदय की दृष्टि से आनंदप्राप्ति और कवि की दृष्टि से अक्षय-कीर्ति को काव्य के मुख्य प्रयोजन माने हैं ।

कुंतक (10 वीं शती का अंत)

कुंतक, आनंदवर्धन के समकालिक तथा वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं । वक्रोक्ति को उन्होंने सिर्फ अलंकार न मानकर काव्य

काव्य-मीमांसा - राजशेखर - चतुर्थ अध्याय

का सर्वस्व स्वीकार किया ।[1] कुंतक ने वक्रोक्ति का अर्थ वैदग्ध्यपूर्ण कथन की शैली माना है ।[2] वक्रोक्ति का संबंध अभिव्यंजना की वक्रता से है । कवि की प्रतिभा के प्रकाशन में वक्रोक्ति ही रास्ता उत्पन्न करती है । वक्रोक्ति का व्यापक विधान करके उन्होंने सभी रसों को इसके अंतर्गत रख दिया ।[3] अलंकार को वे काव्य का स्वरूपाधायक धर्म मानते थे । इसमें काव्य का अस्तित्व निहित है । इस प्रकार शब्द और अर्थ के विशेष रूप से नियोजित होने को उन्होंने काव्य-लक्षण माना है ।[4] उनके मत में कवि विवक्षित विशेष अर्थ की अभिधान क्षमता ही शब्द अथवा वाचकत्व का लक्षण है ।[5] अलंकार, रीति, गुण आदि के विवेचन में वे अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण रखते थे ।

भोजराज (।। वीं शती पूर्वार्द्ध)

भोज का सिद्धांत ग्रंथ है "सरस्वतीकंठाभरण" । इसमें उन्होंने काव्य के विभिन्न अंगों पर अपना स्वतंत्र विचार प्रस्तुत किया है । उन्होंने अर्थालंकार, शब्दालंकार और उभयालंकार नामक अलंकारों के तीन प्रकार माने तथा उपमा, रूपक और अपन्हुति को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों में

---

1. वक्रोक्ति काव्यस्य जीवितम् - वक्रोक्तिजीवितम् - कुंतक - पृ. 22
2. वही 1/7
3. वही - 1/2-5 पूर्वपीठिका वृत्ति
4. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापारशालिनि बन्धे -
   व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी - सरस्वतीकंठाभरण - भोज - 1/7
5. वही - 1/9 - वृत्ति

स्थान दिया । अलंकारों के वर्गीकरण में भी उन्होंने नवीनता दिखायी । उनकी दृष्टि में कवि-गमन मार्ग का नाम है । रसों का पृथक अस्तित्व न मानकर उन्होंने केवल श्रृंगार रस की स्थिति मान ली ।[1] काव्य के सभी अंगों में उन्होंने औचित्य की आवश्यकता पर भी बल दिया है । काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा - "निर्दोष गुणवत् काव्यमलंकारै रलंकृतम्, रसान्वित कविः कुर्वन कीर्ति प्रीति च विन्दतिं ।[2]

मम्मट (।। वीं शती)

अपनी पूर्ववर्ती काव्य परंपराओं और मान्यताओं का सम्यक निरीक्षण करने के पश्चात् आचार्य मम्मट ने "काव्य-प्रकाश" में अपने काव्य-संबंधी विचार व्यक्त किये । उनके अनुसार दोषरहित, गुणयुक्त और कभी कभी अलंकार-सहित शब्दार्थ काव्य है ।[3] आगे उन्होंने बताया कि व्यंग्य की उपस्थिति में अलंकारहीन काव्य भी काव्य हो सकता है ।[4] अलंकार और गुण को वे रस का उत्कर्षक मानते थे ।[5] रीतियों तथा वृत्तियों का एकीकरण करके उन्होंने अपनी

---

1. भोजस् श्रृंगार प्रकाश - डॉ. राघवन - पृ. 82
2. सरस्वती कंठाभरण - भोज - 1/2
3. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि - काव्यप्रकाश - मम्मट प्रथम उल्लास - सूत्र - ।
4. वही - 1/19
5. वही - 8/69

मौलिक उद्भावना प्रस्तुत की है ।[1] उनके द्वारा निर्धारित काव्य-प्रयोजन के अंतर्गत धर्मार्थ-काम, मोक्ष, यश-प्राप्ति के अतिरिक्त नैतिक प्रयोजन और सांसारिक विषयों का व्यावहारिक ज्ञान भी समाविष्ट है ।[2]

क्षेमेन्द्र ﴾ 12 वीं शती ﴿

काव्य-शास्त्र में औचित्य-तत्व को सर्वाधिक महत्व देनेवाला आचार्य है क्षेमेन्द्र । उन्होंने औचित्य को एक विशेष तत्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उसके महत्व का प्रतिपादन किया है ।[3] उचित का भाव औचित्य है जो किसी वस्तु के साथ अपनी अनुरूपता लिये रहता है ।[4] औचित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है । पद, वाक्य, प्रबंधात्मकता, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक वस्तुओं से उसका संबंध है । औचित्य ही रस को आस्वाद्य बनाता है । औचित्य के बिना गुण, अलंकार आदि अपनी चारुता व्यंजित नहीं कर सकते ।

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास - डॉ. वेंकटशर्मा - पृ. 105
2. काव्यप्रकाश - मम्मट - 2/2
3. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरम् काव्यस्य जीवितम् - औचित्य विचार चर्चा - क्षेमेन्द्र - पृ. 22
4. उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते - वही - व्याख्या - 7.

विश्वनाथ (14 वीं शती)

विश्वनाथ रसवाद के समर्थक आचार्य हैं । उन्होंने रसयुक्त वाक्य को ही काव्य माना है ।[1] गुण, अलंकार और रीति को वे काव्य के उत्कर्षकारक मात्र मानते हैं ।[2] दृश्य और श्रव्य काव्य के रूप में उन्होंने काव्य भेदों की विवेचना की । वस्तुतः रस-ध्वनि को प्रधानता देते हुए विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त के आशय को ही अधिक स्पष्ट कर दिया है । उनके अनुसार काव्य के दो ही भेद हो सकते हैं - ध्वनिकाव्य और गुणीभूत काव्य । भावना, कल्पना और बुद्धि को काव्य में उचित स्थान उन्होंने दिया ।

पंडितराज जगन्नाथ (17 वीं शती)

परवर्ती आचार्यों में आचार्य जगन्नाथ का विशेष स्थान है । उन्होंने दूसरे काव्य-शास्त्रियों की मान्यताओं का खंडन करके काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-भेद संबंधी अपने सिद्धांतों को निर्दोष स्थापित किया है । वे "रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द" को काव्य मानते थे । अलंकार, रस, गुण, रीति, वस्तु, ध्वनि आदि रमणीयता के विभिन्न प्रकार हैं । रमणीयता, काव्य, पाठक के हृदय में तटस्थता और निस्संगता की स्थिति पैदा कर देती है जिससे उसे अलौकिक आनंद की प्राप्ति होती है । रस को वे नित्य और आत्मचैतन्य स्वरूप मानते थे । रस-निष्पत्ति के लिए वे काव्यार्थ विषयक भावना को प्रधानता

---

1. वाक्य रसात्मकं काव्यम् - साहित्यदर्पण - विश्वनाथ - पृ. 10
2. वही - 10/1, 3/2-3, 9/2

देते थे । वे काव्य-रस को चित्त-वृत्ति विषयक विशेषात्मक आनंद न कहकर उसे सर्वथा लौकिक मानते थे । लौकिक होते हुए भी वह विलक्षण है क्योंकि अन्य लौकिक सुख तो अंत:करण की वृत्तियों से युक्त चैतन्य स्वरूप होते हैं, जबकि रस-रूप आनंद विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है जिसका अनुभव करते समय हमारी चित्तवृत्ति आनंद रूप में ही परिणत हो जाती है । अर्थात् अज्ञानरूप आवरण से मुक्त विशुद्ध आत्मचैतन्य का विषय ही रस है । रस-मीमांसा संबंधी उलझे हुए प्रश्नों को सुलझाने के उद्देश्य से उन्होंने अपने व्यक्तिगत विचारों पर आश्रित रस-विषय अवधारणाओं को प्रस्तुत किया है ।

इन आचार्यों के अतिरिक्त शंकुक, भट्टलोल्लट, भट्टनायक, धनंजय (दशरूपक), महिमभट्ट (व्यक्तिविवेक) रुय्यक (अलंकारसर्वस्व), हेमचन्द्र (काव्यानुशासन), मुकुलभट्ट आदि आचार्यों ने भी अपने अपने सिद्धांतों द्वारा संस्कृत काव्य-शास्त्र की पुष्टि की । महिमभट्ट ने विशेषत: औचित्य पर स्वतंत्र विचार प्रस्तुत किये ।

मध्यकालीन समीक्षा

संस्कृत के बाद के युग में काव्य-शास्त्र के विशद और मौलिक विवेचन का कोई प्रमाण नहीं मिलता । इस काल में संस्कृत की प्रौढ़-रचनाओं का अंत हुआ था और काव्य-शास्त्र, पतन की अवस्था तक आ चुका था । अत: प्राचीन संस्कृत के समान, प्रौढ़ विवेचन और चिन्तन प्रणाली का, अभाव इस समय पाया जाता है । इस युग की पाली, प्राकृत आदि भाषाओं ने

भारतीय काव्य-शास्त्र की विकास-परंपरा में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया है । इन भाषाओं में अलंकार-शास्त्र के स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिले हैं । हिन्दी काव्य-शास्त्र ने इन से कुछ भी ग्रहण नहीं किया है ।

भक्ति काल में भी काव्य-शास्त्र का कोई गंभीर अध्ययन नहीं हुआ है । यदि कुछ हुआ तो भी वे सब, कुछ टीका-ग्रंथ तथा सिद्धांत-ग्रंथों और आगमों की व्याख्या तक सीमित थे ।[1] इसके बावजूद भी इस काल के कुछ कवियों ने काव्य-शास्त्र का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है । डॉ. नगेन्द्र के अनुसार इस युग के काव्य में सौन्दर्य-विधायक सभी तत्व, भरपूर मात्रा में उपलब्ध हैं ।[2] कवियों ने रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, गुण, वृत्ति, आदि का सहजता के साथ प्रयोग किया है । तुलसी, जायसी आदि कवियों को काव्य-शास्त्र के प्रौढ़ सिद्धांतों का अच्छा ज्ञान था । जायसी ने "पद्मावत" में अपनी भावक-शक्ति का परिचय दिया है ।[3] तुलसी काव्य में कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के महत्त्व को स्वीकार करते थे । वे शब्दार्थ साहित्य के समर्थक थे ।[4] इन सबके बावजूद भी, काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में इस काल की कोई स्थायी और मौलिक देन नहीं । अतः इस काल के काव्य-शास्त्र का कोई विशेष निरूपण नहीं हो सकता ।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. नगेन्द्र - पृ. 282
2. वही - पृ. 287
3. हिन्दी आलोचना - उद्भव और विकास - भगवतस्वरूप मिश्र - पृ. 162
4. रामचरितमानस - गोस्वामी तुलसीदास - दोहा - 18 - पृ. 23

रीतिकालीन समीक्षा

हिन्दी में रीतिकाल में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की प्रचुर मात्रा में रचना हुई । संस्कृत आचार्यों के निम्न-कोटि में आनेवाले भानुदत्त, केशवमिश्र आदि के चिन्तन का अनुकरण हिन्दी के रीति कवियों ने मुख्यत: किया । संस्कृत की "रसमंजरी" और "रसतरंगिणी" की सर्वांगनिरूपण शैली, श्रृंगार रसमयी नायिका भेदवाली शैली और "चंद्रालोक" की संक्षिप्त अलंकार-निरूपण शैली को आधार मानकर इन्होंने काव्य-शास्त्र निरूपण किया । अधिकतर आचार्यों ने नायिकाभेद शैली को ही अपनाया । वस्तुत: रीतिकालीन कवियों ने लक्षण-निरूपण के लिए कविता नहीं लिखी, बल्कि उदाहरणों के लिए काव्य-शास्त्रीय लक्षणों का निरूपण किया । उदाहरणों में विभिन्न छन्दों का भी प्रयोग किया गया । अपने आश्रयदाता राजाओं को संतुष्ट करने के लिए काव्य-रचना करना रीति कवियों का प्रधान कार्य था । अत: इन्होंने काव्य के चमत्कार पक्ष पर अधिक बल दिया । ये आचार्य कवि नाम से जाने जाते हैं ।[1] आचार्यत्व और कवित्व को मिलाने की कोशिश में उनकी सृजनात्मक शक्ति मंद हो गयी । इस काल में तीन प्रकार के आचार्य हैं - रीतिबद्ध, (केशव), रीतिमुक्त (घनानंद) और रीतिसिद्ध (बिहारी)।[2] इन्होंने विभिन्न काव्य-संप्रदायों के विकास में विशेष योग दिया ।

रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य थे केशवदास । ये अलंकारवादी आचार्य थे और संस्कृत के प्रकांड पंडित थे । उन्होंने अपनी "कविप्रिया" में

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. नगेन्द्र - पृ. 323-325
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - वही - पृ. 359

काव्य-शास्त्र का सांगोपांग निरूपण किया है । भामह, दंडी आदि अलंकारवादी आचार्यों से प्रभावित होकर उन्होंने "कविप्रिया" में यों लिखा -"भूषण बिन न विराजाई कविता बनिता मित्त ।"[1] लेकिन "रसिकप्रिया" में उन्होंने रस का निरूपण किया । केशव ने अपने समय में प्रचलित सभी शैलियों में काव्य लिखा । शुक्लजी ने चिंतामणि त्रिपाठी को रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य का श्रेय दिया है ।[2] ये भी सर्वांगनिरूपक आचार्य थे । इन्होंने "कविकुलतल्पतरु", "श्रृंगारमंजरी", "छंदविचार" आदि रचनाओं में रस, छंद, अलंकार आदि काव्यांगों पर प्रकाश डाला है । इस काल के अन्य दो प्रमुख आचार्य हैं देव और भिखारीदास । देव ने सत्तर से अधिक काव्य-ग्रंथों की रचना की है । "भावविलास", "भवानीविलास", "रस-विलास", "प्रेमचंद्रिका" आदि उनकी मुख्य कृतियाँ हैं । भिखारीदास ने मम्मट के "काव्य-प्रकाश" को आधार बनाकर "काव्य-निर्णय" नामक ग्रंथ लिखा । इसमें हिन्दी काव्य के विभिन्न तत्वों का निरूपण किया गया है । काव्य-भाषा के संदर्भ में अपने विचार भी उन्होंने व्यक्त किये हैं । उनकी अन्य कृति है "छंदार्णवपिंगल" ।

मतिराम (रसराज, अलंकारपंचाशिका) भूषण, महाराज जसवंतसिंह आदि इस काल के अलंकारवादी आचार्य थे । लेकिन इनका अलंकार विवेचन संस्कृत समीक्षा की परंपरा का अनुकरण मात्र था । देव, मतिराम, चिंतामणि, रामसिंह, यशवंतसिंह आदि आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार पर ही अपना रस-निरूपण किया । ध्वनिवाद के पोषक आचार्यों के अंतर्गत

---

1. कविप्रिया - केशवदास - पृ. 5, 1, 2, 3
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 162

देव, सोमनाथ, भिखारीदास आदि आचार्यों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

संक्षेप में रीतिकालीन समीक्षा पूर्ण रूप से संस्कृत काव्य-शास्त्र पर अवलंबित थी । यह रस, अलंकार और नायिका भेद तक सीमित रही । मौलिक चिन्तन एवं नवीन उद्भावनाओं का अभाव उनमें था । रस की सामाजिक पृष्ठभूमि, रचनाकार की आत्माभिव्यक्ति इन सबकी उपेक्षा इस काल की समीक्षा में हुई । जीवन-मूल्यों से जोडकर साहित्य की व्याख्या करने की प्रथा आधुनिक काल में शुरू हुई ।

आधुनिक समीक्षा

आधुनिक काल में समीक्षा ने एक नया रूप धारण कर लिया । पाश्चात्य प्रभाव से इस काल में एक नई परंपरा की शुरूआत हुई । विज्ञान एवं बौद्धिकता का प्रभाव, साहित्य और साहित्यकारों पर पडा । काव्य-शास्त्र के प्रति इस काल के समीक्षकों का नया दृष्टिकोण था । पौरस्त्य और पाश्चात्य सिद्धांतों का समन्वय इस काल की समीक्षा में हुआ । इस काल में सैद्धांतिक आलोचना एक स्वतंत्र शाखा बन गयी । समीक्षकों ने काव्य-शास्त्रीय संप्रदायों को युगानुकूल अपनाया, उनमें परिष्कार किया और उनकी पुनर्व्याख्या की । गुण-दोष निरूपण की पुरानी परिपाटी के स्थान पर लेखक, उसका युग, पात्रों की मनोवृत्ति, चरित्र आदि पर ध्यान रखते हुए नवीन आलोचना हिन्दी में जड पकडने लगी ।

हिन्दी समीक्षा का वास्तविक अर्थ में सूत्रपात भारतेन्दु युग में हुआ । इस काल की समीक्षा, मुख्यत: "हरिश्चन्द्र मैगजीन", "आनंदकादंबिनी", "हिन्दी प्रदीप", "ब्राह्मण" आदि पत्र-पत्रिकाओं के रूप में उपलब्ध थी । पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन और प्रभाव के फलस्वरूप इस काल में प्राचीन विषयों पर नये ढंग से विचार करना शुरू हुआ । काव्य और साहित्य से संबद्ध अन्य समस्याओं पर भी इस काल में स्वतंत्र ढंग से निरूपण किया जाने लगा । स्वयं भारतेन्दु ने पाश्चात्य और पौरस्त्य आलोचना के सिद्धांतों के आधार पर "नाटक" नामक एक पुस्तक लिखी । बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने "आनंदकादंबिनी" पत्रिका में लाला श्रीनिवासदास द्वारा रचित "संयोगिता स्वयंवर" के नाट्य-दोष पर प्रकाश डाला । बालकृष्णभट्ट ने भी "संयोगिता-स्वयंवर" की सच्ची आलोचना की है । पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, बालमुकुंदगुप्त, जगन्नाथ प्रसाद भानु आदि इस युग के प्रबल समीक्षक थे । लेकिन इस काल की समीक्षा रीतिकालीन भावभूमि से पूर्णत: मुक्त नहीं हुई थी । व्यावहारिक समीक्षा में ग्रंथों की आलोचना केवल पत्र-पत्रिकाओं तक सीमित रही । इस युग में सैद्धान्तिक आलोचना संबंधी नया स्वर कम सुनायी पडा ।

द्विवेदी युग में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने विस्तृत आलोचना का रास्ता निकाला । "सरस्वती पत्रिका" के संपादन द्वारा उन्होंने साहित्यकारों को पथ-प्रदर्शन दिया । वे अधिकतर परंपरावादी थे । लेकिन रीतिकालीन परंपरा का विरोध उनमें लक्षित होता है । उनकी समीक्षा, सामाजिक उत्थान एवं राष्ट्रीय विकास की भावनाओं से ओतप्रोत थी ।

पाश्चात्य शैली के आधार पर स्वतंत्र निबंधों के रूप में उन्होंने काव्यांगों का निरूपण किया । उन्होंने स्वयं नई दृष्टि से साहित्य के स्वरूप, उद्देश्य, साहित्य और समाज आदि विषयों पर समीक्षा-संबंधी निबंधों का प्रकाशन किया । साहित्य में सरल और स्पष्ट भाषा की आवश्यकता पर भी उन्होंने बल दिया । इस युग में मिश्रबन्धुओं और पं. पद्मसिंहशर्मा नवीन ने बिहारी और देव के बारे में लिखकर तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया । यद्यपि उनकी आलोचना आधुनिक दृष्टि से भिन्न प्रतीत हो सकती है, तथापि तुलनात्मक आलोचना के प्रथम प्रयत्न के रूप में उनकी महत्ता निश्चित है । बाबू श्यामसुन्दरदास के "साहित्यालोचन" में सैद्धांतिक विवेचन का प्रयास हुआ है । श्यामसुन्दरदास व्याख्यात्मक या विश्लेषणात्मक आलोचना को सबसे महत्वपूर्ण मानते थे । इनके अतिरिक्त इस युग में आलोचना के उन्नायकों में गुलाबराय (काव्य के रूप", "नवरस"), कन्हैयालाल पोद्दार ("अलंकारमंजरी", "काव्यकल्पद्रुम") राधाकृष्ण-दास, जगन्नाथदास रत्नाकर, लाला भगवानदीन (अलंकारमंजूषा"), हरिऔध (रसकलश), सुधाकर द्विवेदी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । इन आलोचकों ने व्यक्तिगत रुचि के अनुसार प्राचीन सिद्धांतों का तार्किक और बौद्धिक विश्लेषण किया । इन्होंने न प्राचीन सिद्धांतों के सही रूपों को ग्रहण किया, न इनकी आलोचना निष्पक्ष रही । फिर भी समीक्षा सामंती संस्कार से मुक्त होकर युगीन चेतना को ग्रहण करने लगी । वस्तुतः आधुनिक समीक्षा का प्रारंभ पं. रामचन्द्रशुक्लजी ही के समय से हुआ ।

शुक्लजी - जीवन - परिचय एवं साहित्य-साधना

किसी साहित्यकार की रचनाओं पर उसके व्यक्तित्व की छाप, जाने या अनजाने लग जाती है । अतः इस संदर्भ में शुक्लजी के जीवन

एवं व्यक्तित्व का सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा ।

प्रारंभिक जीवन

शुक्लजी का जन्म, उत्तरप्रदेश के बस्ती जिले के अगोना गाँव में सन् 1884 को हुआ । इनकी माता, गाना के एक पुनीत मिश्र घराने की कन्या थी । भक्त शिरोमणि तुलसीदास इसी गाना के मिश्र थे । अपने जीवन-काल में गोस्वामी की निर्मल वाणी से उन्हें शक्ति एवं शांति मिली थी । बचपन में ही "रामायण," "सूरसागर", "रामचंद्रिका" और भारतेन्दु के नाटकों को वे ध्यान से सुनते थे और इनका गहरा प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर पडा । हमीरपुर में रहते समय नौ वर्ष की अवस्था में, उनकी माता का देहांत हो गया । इस घटना ने शुक्लजी के आगामी जीवन को जटिल बना दिया । उनके आरंभिक जीवन का अधिक भाग मिर्जापुर की प्रकृति-रमणीय वातावरण में बिताया गया ।

शिक्षा एवं शादी

हमीरपुर के हिंदी-उर्दू स्कूल में शुक्लजी की प्राथमिक शिक्षा हुई । बाद में वे मिर्जापुर के जुबली स्कूल में भर्ती हुए और उच्च-श्रेणी में मिडिल पास किया । इसी बीच उन्हें अंग्रेज़ी, हिन्दी और उर्दू के विशेष अध्ययन करने का अवसर मिला । सन् 1901 में मिर्जापुर के लंदन मिशन स्कूल से इन्होंने हाईस्कूल की परीक्षा पास की । इसके बाद प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में एफ.ए. के लिए दाखिला हुए । प्लीडरशिप की परीक्षा में बैठे, लेकिन असफल रहे ।

इसीबीच शुक्लजी की शादी भी बारह वर्ष की अवस्था में काशी निवासी पंडित रामफल पांडे ज्योतिषी की कन्या सुमती देवी से हुई । शादी के कारण उनकी शिक्षा में शिथिलता आयी । इन असफलताओं के बावजूद वे बराबर साहित्य, मनोविज्ञान आदि के अध्ययन में निरंतर लगे रहे ।

प्रभाव

शुक्लजी के व्यक्तित्व-निर्माण में अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों का योगदान है । अंग्रेज़ी के मर्मज्ञ पं. रामगरीब चौबे से उन्हें अंग्रेज़ी के अध्ययन की प्रेरणा मिली । पं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद के सत्संग से उनमें संस्कृत सीखने की प्रवृत्ति जागृत हुई । और उनका हिन्दी प्रेम भी दृढ़ हुआ । वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति का परिचय, उन्हें इन से मिला । उनके काव्यादर्श की अवधारणा में पं. बलभद्रसिंह का असाधारण व्यक्तित्व सहायक हुआ है । बाबू काशीप्रसाद जायसवाल के संपर्क ने उनमें हिन्दी पढने के उत्साह को तीव्र बना दिया । पं. केदारनाथ पाठक से भी उन्हें काफी मदद मिल गयी । मिर्जापुर में रहते समय, पं. बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन से उनका संपर्क बढा जिनका स्थायी प्रभाव शुक्लजी पर पडा । उन्होंने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत एवं अंग्रेज़ी के साहित्य का गहन अनुशीलन प्रेमघन के संपर्क में आकर किया, जिसका उपयोग आगे चलकर उन्होंने अपने लेखन में किया । बाबू जगमोहनवर्मा, डॉ. श्यामसुन्दरदास, लाला भगवानदीन, पं. बालकृष्णभट्ट, बाबू अमीरसिंह आदि के भी, वे निकट संपर्क में रहे हैं । शुक्लजी पर पाश्चात्य प्रभाव भी कम नहीं है । पाश्चात्य समीक्षकों में वे शैण्ड, रिचर्ड्स और एवरक्रांबी से प्रभावित हैं । भाव-विवेचन संबंधी सामग्री उन्होंने शैण्ड से ली है । इस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने की प्रेरणा उन्हें रिचर्ड्स से मिली ।

नौकरी

मिर्जापुर में रहते हुए शुक्लजी के पिताजी ने दूसरा विवाह कर लिया । घर में विमाता का शासन और दादी की अकस्मात मृत्यु ने उनके जीवन को संकटमय बना दिया । आर्थिक संघर्ष के कारण उन्हें पुस्तकें लिखनी पड़ी ; अनुवाद करना पड़ा । शुक्लजी मेयो मेमोरियल लाइब्रेरी के अध्यक्ष थे । घंटों बैठ करके वे वहाँ अध्ययन करते थे । उसके बाद कचहरी में अप्रेन्टिसशिप शुरू की । पर वातावरण अच्छा न लगा । सरकारी नौकरी से घृणा से तसल्ली लगा, बाद में स्वीकार कर लिया । 1908 तक वे मिर्जापुर के मिशन-स्कूल में ड्राइंग मास्टरी की । उनकी संस्कार-चेतना और व्यक्तित्व का निर्माण इसी अवस्था में हुआ । अपनी काव्य-संबंधी मान्यताओं को स्पष्ट करने के लिए चित्र-रचना संस्कार का उपयोग उन्होंने यत्र-तत्र किया । मिर्जापुर में रहते, उन्हें नवयुवक हिन्दी प्रेमियों की एक सुदृढ़ मंडली मिली थी, जिनमें काशीप्रसाद जायसवाल, बाबू भगवानदास हालना, पं. बद्रीनाथ गौड, पं. लक्ष्मीशंकर द्विवेदी, उमाशंकर द्विवेदी आदि प्रमुख थे । "प्रेमघन" जी के प्रोत्साहन से शुक्लजी की रचनाएँ "आनंदकादंबिनी" पत्रिका में निकालने लगी । उनके भीतर हिन्दी के सुलेखक बनने की प्रबल इच्छा जग गयी । उनके कुछ अनूदित लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित किये गये । "इंडियन पीपिल्स मोर्डन रिव्यू" में वे सामयिक लेखकों और पुस्तकों पर लिखते रहे । पच्चीस वर्ष की अवस्था में "हिन्दी शब्द-सागर" के सहायक संपादक होकर वे काशी गये । उनके कोशकार्य की अर्थगर्भ टिप्पणी करते हुए डा. श्याम-सुन्दरदास ने कहा - "कोश ने शुक्लजी को बनाया, कोश को शुक्लजी ने ।" कोशकार्य समाप्त होते ही हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में इनकी नियुक्ति हुई । अपने जीवन के अंतिम समय तक वे वहीं रहे । शुक्लजी की साहित्यिक उपलब्धि का नया इतिहास, काशी में प्रारंभ होता है । उनकी

प्रौढ़ कृतियाँ, काशी में रहते समय प्रकाशित हुई । यहाँ रहते ही, सूर, तुलसी, जायसी पर आलोचनात्मक निबंध तथा "काव्य में रहस्यवाद", "काव्य में प्राकृतिक दृश्य", "कविता क्या है " आदि गंभीर मार्मिक काव्य समीक्षाएँ लिखी गयीं । "हिन्दी शब्द-सागर" तथा "हिन्दी साहित्य का इतिहास" की पूर्ति इन्होंने काशी में रहकर की । काशी में रहने के बीच, एक वर्ष के लिए बाबू श्यामसुन्दरदास के साथ वे काश्मीर गये । बाद में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए । इस पद पर रहते हुए ही सन् 1941 फरवरी दो को इनकी मृत्यु हुई ।

शुक्लजी की बहुमुखी प्रतिभा

हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में शुक्लजी समीक्षक के रूप में अधिक विख्यात । किन्तु वे सफल समीक्षक ही नहीं, वे भावुक कवि, उच्चकोटि के निबंधकार, विज्ञ इतिहासलेखक, अनुवादक, सफल अध्यापक और कुशल संपादक भी थे ।

कवि शुक्ल

शुक्लजी के साहित्यिक जीवन का आरंभ कविता से हुआ । उनकी संपूर्ण रचनाओं में उनका कवि हृदय फूट पडता है, जिससे उनके चिन्तनप्रधान निबंध भी रागात्मक प्रतीत होते हैं । उनकी प्रारंभिक रचनाओं में कविता और कृति के प्रति सहज आस्था दिखाई पडती है । वे प्रकृति के विभिन्न रूपों और व्यापारों का सूक्ष्म निरीक्षण करते थे और उससे रागात्मक संबंध भी स्थापित करते थे । बाद में चिन्तन मनन कर उस जीवनरस को लेखन में ढालते थे ।

प्रकृति उनकी साहित्य-चिन्तन का संस्कार है । उनके साहित्य की जीवन्तता और सरसता इसका प्रमाण है । उनकी कविता की प्रशंसा डॉ. केसरीनारायण शुक्ल यों करते हैं - "शुक्लजी के साहित्यिक जीवन की विचारधारा का मूल स्रोत उनकी कविता में उमड़ता है । उनकी कविता में उनके जीवन की झलक पाई जाती है । उनमें आंतरिक भावना के दर्शन होते हैं, उनकी समालोचना के आदर्श की कुंजी भी उनकी कविता में भरी है ।"[1]

शुक्लजी के काव्यों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं -

1. मौलिक काव्य 2. अनूदित काव्य ।

मौलिक काव्य

इनकी मौलिक कविताओं में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ दिखाई पडती हैं - प्रकृति चित्रण (सौन्दर्य चेतना) और देशप्रेम (राष्ट्रीय चेतना) । उनकी मौलिक कविताओं का संकलन है "मधुस्रोत" । अतीत के यादों की मिठास का स्रोत ही "मधुस्रोत" है । इसमें माटी की सोंधी गंध, प्रकृति का अलस रूप और अतीत की मधुर-स्मृतियाँ अत्यंत स्वाभाविक एवं सहज रूप में विद्यमान है । इस संग्रह में कुल मिलाकर सत्ताईस कविताएँ हैं । इसमें "मनोहर छटा", "हृदय का मधुर भार", "शशिशिर - पथिक", "वसंतपथिक" "आमंत्रण" आदि प्रकृति संबंधी कविताएँ हैं । उनका भावुक कवि कवि-हृदय देश-प्रेम की भावना से अछूता नहीं । "भारत और वसन्त", "रानी-दुर्गावती", "गोस्वामीजी" और "हिन्दू जाति"

---

1. आलोचक रामचंद्र शुक्ल - पृ. 197 (सं. गुलाबराय, विजयेन्द्र स्नातक)

"देशद्रोही को दुत्कार", "फूट", "आशा और उद्योग", "बालविनय", "वन्दना", "हर्षोद्गार", "वसंत" आदि कविताओं में उनकी राष्ट्रीय चेतना मुखरित हुई है । "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र", "भारतेन्दु जयन्ती", "श्रीयुत देवकीनंदन खत्री का वियोग", "हमारी हिन्दी" आदि कविताएँ हिन्दी के प्रति उनका अनुराग व्यक्त करती हैं । "पाखंड प्रतिषेध" दस कविताओं की रम्य रचना है । इसमें "काव्य में रहस्यवाद" संबंधी विचारों को व्यक्त किया है । "अन्योक्तियाँ" एकमात्र मुक्तक रचना है ।

अनूदित काव्य - "बुद्धचरित"

सर एडविन आर्नल्ड द्वारा रचित अंग्रेज़ी काव्य "लाइट ऑफ एशिया" का "बुद्धचरित" नाम से शुक्लजी ने व्रजभाषा में अनुवाद किया । अनुवाद होने पर भी इसमें मौलिक रचना का जैसा आस्वादन मिलता है । इसके आठ सर्ग हैं । इसका प्रतिपाद्य है, भगवान तथागत के जन्म से परिनिर्वाण तक की कथा । साथ साथ इसमें प्रकृति और मनुष्य के अनेक मोहक चित्र भी अंकित हैं । भाषा-वैज्ञानिक तथा व्याकरणिक समस्याओं में शुक्लजी की अंतर्दृष्टि पहचानने में "बुद्धचरित" की भूमिका सहायक है ।

शुक्लजी की कविताओं की भाषा संस्कृत गर्भित है । उनके कवि-रूप की चर्चा करते हुए, डॉ. रामविलासशर्मा लिखते हैं - "अनेक कवियों ने आलोचनाएँ लिखी हैं, पर शुक्लजी उनमें नहीं हैं, वे उन आलोचकों में हैं,

जिन्होंने कविताएँ लिखी हैं ।"[1]

निबंधकार शुक्ल

निबंध-लेखन, एक गूढ़ और गंभीर कार्य है । "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में निबंध की चर्चा के दौरान शुक्लजी ने लिखा है - "यदि गद्य कवियों की कसौटी है, तो निबंध गद्य की कसौटी है । भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंध में ही सबसे अधिक संभव है ।"[2]

शुक्लजी के निबंधों के संग्रह हैं - चिंतामणि - भाग §1§, भाग §2§ और भाग §3§ । इनमें उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट रूप से झलकती है । उनके निबंध उनका विशद पांडित्य, प्रौढ़-चिन्तन और सूक्ष्म विश्लेषण के उत्तम उदाहरण हैं ।[3]

चिंतामणि - भाग §1§ - §1939§

शुक्लजी के साहित्यालोचन के मनोवैज्ञानिक आधार के उत्तम प्रमाण है - चिंतामणि §भाग एक§ । सन् 1930 में प्रकाशित "विचारवीथी" ही

---

1. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल और हिन्दी आलोचना - रामविलास शर्मा - पृ. 23
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 482
   हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. नगेन्द्र - पृ. 594

सन् 1939 में परिवर्तित एवं परिवर्धित होकर चिंतामणि(भाग एक)के रूप में प्रकाशित हुई है । यह भाव या मनोविकार संबंधी और साहित्य समीक्षा संबंधी (सैद्धांतिक और व्यावहारिक) सत्रह निबंधों का संग्रह हैं ।

भाव या मनोविकार संबंधी निबंधों के अंतर्गत उत्साह, श्रद्धा, भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, "लोभ और प्रीति", घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध ये नौ निबंध आते हैं । मनोवैज्ञानिक वृत्तियों, स्थितियों और भावनाओं के आधार पर ये निबंध लिखे गये हैं । इनमें साहित्यिक शैली में मनोवेगों की मनोवैज्ञानिक विवेचना की गयी है ।

"कविता क्या है ?", "काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था", साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद" तथा "रसात्मक बोध के विविध प्रकार" आदि निबंधों में शास्त्रीय सिद्धांतों का बौद्धिक आधार पर विवेचन किया गया है । काव्य के स्वरूप निर्धारण की दृष्टि से "कविता क्या है" महत्वपूर्ण है । इसमें शुक्लजी ने अपनी रस-दृष्टि से काव्य परिभाषा, काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-स्वरूप आदि पर विचार किये हैं । "काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था" तो की दृष्टि से समृद्ध है । इसमें शुक्लजी ने काव्य का सबसे बडा प्रयोजन, लोकमंगल की उपलब्धि माना है । लोकमंगल की साधनावस्था और सिद्धावस्था के आधार पर उन्होंने कवियों का भेद निरूपित किया है । साधारणीकरण की स्थिति पर प्रकाश डालनेवाला गंभीर निबंध है "साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद" । इसमें रस प्रक्रिया से संबंधित साधारणीकरण सिद्धांत के विभिन्न पक्षों पर रोशनी डाली है । व्यक्तिवैचित्र्यवाले दूसरे भाग में उन्होंने समष्टि

की उपेक्षा करके व्यष्टि तक सीमित रहनेवाले पाश्चात्यवादों की निस्सारता दिखाई है । "रसात्मक बोध के विविध रूप" में रस की प्रतीति तथा स्वरूप स्पष्ट करते हुए, उन्होंने प्रत्यक्ष-जीवन तक रस की व्याप्ति सिद्ध की है ।

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र" में शुक्लजी ने भारतेन्दु की साहित्यिक विधाओं पर अपने गंभीर और उत्कृष्ट विचार प्रस्तुत किये हैं । भारतेन्दु की प्रशंसा में उन्होंने लिखा - "प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है ।"[1] शुक्लजी राम के शील-शक्ति-सौन्दर्य के उपासक थे । उनके अनुसार "भक्ति का मूल तत्व, महत्व की अनुभूति है और तुलसी में यह प्रचुर मात्रा में पायी जाती है ।"[2] "तुलसी का भक्तिमार्ग" में इस बात की स्थापना हुई है । उनके अनुसार तुलसी के भक्तिमार्ग में व्यक्ति कल्याण और लोक-कल्याण का समन्वय होने के कारण, संपूर्ण मानव जाति को उन्नत बनाता है । "तुलसी का भक्ति-मार्ग", "मानस की धर्मभूमि" आदि में सामाजिक और पारिवारिक धर्म की मीमांसा करते हुए उन्होंने विश्वधर्म के रूप में तुलसी के लोकधर्म की प्रतिष्ठा की है ।

चिन्तामणि - भाग §८§

"काव्य में प्राकृतिक दृश्य", "काव्य में रहस्यवाद", "काव्य में अभिव्यंजनावाद" इन तीन विस्तृत निबंधों का संकलन है - चिंतामणि - भाग§2§ ।

---

1. चिंतामणि - भाग ।- शुक्लजी - पृ. 131
2. चिंतामणि - भाग ।-शुक्लजी - पृ. 139

"काव्य में प्राकृतिक दृश्य" प्रकृति के विविध रूपों की काव्य में उपादेयता का शास्त्रीय विवेचन है । "काव्य में रहस्यवाद" में उन्होंने छायावादी युग की नकली रहस्यवादी कविताओं पर कठोर प्रहार किया है । रहस्यवाद को वे काव्य की एक शाखा मानते हैं । हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में शुक्लजी ने जो भाषण दिया था, उसका संकलित रूप हैं "काव्य में अभिव्यंजनावाद" । साहित्य के संबंध में देश-विदेश के विभिन्न विचारों की व्याख्या और समीक्षा इसमें हुई है ।

<u>चिंतामणि - भाग ﴾3﴿</u>

"चिंतामणि" के दोनों संकलनों के बाद शुक्लजी की लिखी और छपी जो सामग्री शेष थी, उनका अनूठा संग्रह है - चिंतामणि - भाग ﴾3﴿ । उनकी मृत्यु के बाद सन् 1983 में डॉ. नामवरसिंह द्वारा इसके संपादन का विशेष कार्य संपन्न हुआ । इसमें इक्कीस निबंध संगृहित हैं । पहला निबंध "साहित्य" कार्डिनल न्यूमन की पुस्तक "द आइडिया ऑफ ए यूनिवर्सिटी" के "लिटरेचर" शीर्षक निबंध का अनुवाद है । साहित्य संबंधी शुक्लजी के ऊँचे आदर्श का उत्तम दस्तावेज़ है यह । इसमें उन्होंने साहित्य का धर्म, साहित्य का स्वरूप, विज्ञान और साहित्य का संबंध आदि विषयों पर अपने स्वतंत्र विचार व्यक्त किये हैं । साहित्य की अलंकारवादी धारणा का खंडन भी इसमें हुआ है । साहित्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए शुक्लजी ने कहा कि साहित्य उस लेखन-प्रणाली का नाम है जिसमें विचार और कल्पना भाव द्वारा प्रकट किये जाते हैं ।[1]

---

1. चिंतामणि - भाग 3 - पृ. 27

जोसफ एडिसन के "प्लेषेरस ऑफ इमाजिनेशन" का हिन्दी अनुवाद है "कल्पना का आनंद" । कल्पना के वास्तविक स्वरूप की पहचान इसमें हुई है । शुक्लजी ने दृष्टि द्वारा उत्पन्न आनंद को कल्पना का आनंद माना है । "रसात्मक बोध के विविध रूप" नामक प्रसिद्ध निबंध की रचना तथा काव्य में बिंब-विधान, प्रकृति-चित्रण आदि नये सिद्धांतों की स्थापना का आधार यही निबंध है । इसमें अंग्रेज़ी के अनेक पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी प्रतिशब्द भी मिलते हैं ।

"कविता क्या है", "कविता की परख", "सभ्यता के आवरण और कविता" आदि निबंधों में कविता का स्वरूप, काव्य-भाषा तथा काव्य के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला है । "कविता क्या है", चिन्तामणि-भाग१।१ के "कविता क्या है" नामक निबंध का परिवर्तित और परिवर्धित रूप है । कविता में भाषा के विशिष्ट प्रयोग पर इसमें विस्तार से प्रकाश डाला गया है ।

कविता के साथ साथ "उपन्यास" नामक साहित्यिक विधा पर भी शुक्लजी के ज्ञान और पांडित्य का परिचायक है "उपन्यास" नामक निबंध । इसमें उन्होंने मानव-प्रकृति पर उपन्यास के गहरे प्रभाव पर विचार किया है । उनकी दृष्टि में अच्छे उपन्यासों से भाषा की पूर्ति तथा समाज का कल्याण होता है । भाषा-संबंधी शुक्लजी के स्वतंत्र विचारों को समझने में सहायक निबंध हैं "गद्य-प्रबंध के प्रकार", "अपनी भाषा पर विचार," "हिन्दी की पूर्व और वर्तमान

---

1. चिन्तामणि भाग 3 - पृ. 102

स्थिति", "हिन्दी और हिन्दुस्तानी" तथा "बुद्धचरित की भूमिका" आदि । "अपनी भाषा पर विचार" में भाषा के सर्जनात्मक पक्ष पर शुक्लजी ने विचार किया है । शुक्लजी के अनुसार भाषा की शक्ति का व्यवस्थित रूप में विकास गद्य में ही होता है । गद्य का क्षेत्र विस्तृत है । "गद्य-प्रबंध के प्रकार" में वर्णनात्मक, विचारात्मक, कथात्मक, भावात्मक आदि गद्य-प्रबंध के विभिन्न प्रकारों तथा भाषा की शक्ति के विकास में गद्य के योगदान पर शुक्लजी ने अपनी राय प्रकट की है । काव्य-भाषा की भाषा-वैज्ञानिक तथा व्याकरणिक समस्याओं में शुक्लजी की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का प्रमाण है "बुद्धचरित की भूमिका" । व्रजभाषा, अवधी और खड़ीबोली के स्वरूप और विशेषताओं का विश्लेषण भी इसमें हुआ है ।

शुक्लजी काव्य-मूल्यों में क्षात्र-धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते थे । "क्षात्र-धर्म का सौन्दर्य" निबंध में उन्होंने कर्म-सौन्दर्य से युक्त क्षात्र-धर्म की खूब प्रशंसा की है । शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ रूपमाधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख-भोग के साथ पर-दुःख कातरता, प्रताप के साथ कठिन धर्म-पथ का अवलंबन आदि कर्म-सौन्दर्य के विभिन्न रूप क्षात्र-धर्म में मिलते हैं ।

"प्रेम-आनंद स्वरूप है" नामक निबंध में शुक्लजी ने प्रेम को काव्य में आनंद की पूर्णावस्था की प्राप्ति में सहायक भाव के रूप में चित्रित किया है । उनके अनुसार वासनात्मक अवस्था से भावात्मक अवस्था में आया राग ही अनुराग या प्रेम है ।[1]

---

1. चिन्तामणि - भाग 3 - पृ. 232

काशीनाथ खत्री, फ्रेडरिक पिन्काट, भारतेन्दु, प्रेमघन आदि प्रतिभावान साहित्यकारों के जीवन-परिचय और साहित्यिक व्यक्तित्व की झाँकी "बाबू काशीनाथ खत्री", "फ्रेडरिक पिन्काट", "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी" तथा "प्रेमघन की छाया-स्मृति" में मिलती हैं । शुक्लजी के प्रारंभिक जीवन की झाँकी "प्रेमघन की छाया-स्मृति" में मिलती है । "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी" में शुक्लजी ने हिन्दी को उन्नति के आधुनिक मार्ग पर लाकर खडा करनेवाले देशप्रेमी, समाज-सुधारक साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रशंसा की है । "फ्रेडरिक पिन्काट" में ~~उन्होंने~~ फ्रेडरिक पिन्काट के व्यक्तित्व और जीवनी पर प्रकाश डालते हुए, हिन्दुस्तान का सर्वप्रधान भाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा करनेवाले चिरस्मरणीय पाश्चात्य साहित्यकार के रूप में ले उनकी याद करते हैं ।

ऐतिहासिक कल्पना संबंधी शुक्लजी की मान्यताएँ "शेषस्मृतियों" की प्रवेशिका में मिलती हैं । "विश्वप्रपंच की भूमिका" प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक इकल की "रिडिल ऑफ द यूनिवर्स" का अनुवाद है । शुक्लजी की वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि का प्रबल आधार है यह । भौतिक शास्त्र के कतिपय तत्वों के परिचय के साथ इसमें जीवशास्त्र, डार्विन का विकासवाद आदि का भी विस्तृत विवेचन मिलता है । इसमें विज्ञान संबंधी शुक्लजी की पारिभाषिक शब्दावली विशेष महत्व रखती है । "शशांक" की भूमिका से इतिहास संबंधी शुक्लजी के पांडित्य का परिचय मिलता है । अंत में संकलित स्वगत भाषण से शुक्लजी के व्यक्तित्व

चिन्तामणि - भाग §3§ - शुक्लजी - पृ. 109

का नया पक्ष हमारे सामने आता है । इसमें उन्होंने प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद तथा उपन्यास, कहानी, निबंध, समालोचना आदि विधाओं पर अपने स्वतंत्र विचार व्यक्त किये हैं ।

चिन्तामणि के इन निबंधों के अतिरिक्त शुक्लजी ने साहित्य, समाज और संस्कृति पर कुछ फुटकल निबंध लिखे हैं । "पारसी लोग हिन्दुस्तान में कैसे आये," "मित्रता", "प्राचीन पारस का संक्षिप्त इतिहास", "हुएनसेंग", "शाह आलम", "प्राचीन भारतीयों का पहरावा" आदि इनमें मुख्य हैं । शुक्लजी के सभी निबंध उनके प्रखर आलोचनात्मक दृष्टिकोण के स्पष्ट प्रमाण हैं ।

इतिहासकार शुक्ल

"हिन्दी साहित्य का इतिहास" लिखकर शुक्लजी ने अपने यश को चिरस्थायी बना दिया । इसमें उन्होंने सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में साहित्य की समीक्षा प्रस्तुत की है । हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन और नामकरण में उन्होंने अपने जागरूक समीक्षात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है । प्रत्येक काल की प्रमुख प्रवृत्तियों की व्याख्या तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से कवि की विशेषताओं का उद्घाटन इसमें हुआ है । तुलसी, सूर और जायसी के अतिरिक्त घनानंद, भिखारीदास और रीतिकाल के कुछ उपेक्षित कवियों को भी उन्होंने इसमें स्थान दिया है ।

समीक्षक शुक्ल

शुक्लजी ने सैद्धान्तिक-समीक्षा संबंधी कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा है । "रस-मीमांसा" तथा "चिन्तामणि" के विभिन्न निबंधों में समीक्षा-संबंधी उनकी मान्यताओं का उल्लेख हुआ है । इनका विस्तृत अध्ययन तीसरे अध्याय में हुआ है । "जायसी ग्रंथावली", "भ्रमरगीतसार", "तुलसी ग्रंथावली" आदि की भूमिकाओं में तथा "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में इन सिद्धांतों का सफल प्रयोग उन्होंने किया है । उनकी रसोन्मुखी विचारधारा का पूरा परिचय "रसमीमांसा" में मिलता है ।

शुक्लजी का पांडित्य, आत्मविश्वास और वैज्ञानिक अनुसंधान का आत्म प्रमाण है "जायसी ग्रंथावली की भूमिका" । इसमें उन्होंने जायसी को, तुलसीदास के बाद हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया है । प्रेमगाथा परंपरा की प्रेमपद्धति का विशद वर्णन करते हुए, उन्होंने ईश्वरोन्मुख प्रेम-तत्व पर स्वतंत्र रूप से इसमें विचार किया है । डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार जायसी के काव्य-संदर्भ को चमत्कारिक रूप से उद्घाटित करने का श्रेय शुक्लजी को है । "पद्मावत" की प्रस्तावना में शुक्लजी ने जो काव्य-मर्मज्ञता दिखाई है, वह हिन्दी में ही नहीं, अन्य आधुनिक भाषाओं में भी कम ही मिलेगी ।[1]

"भ्रमरगीतसार की भूमिका" शुक्लजी की एक छोटी सी आलोचनात्मक कृति है । इसमें हृदय-पक्ष तथा कला-पक्ष की कसौटी पर

---

[1] आलोचक रामचन्द्र शुक्ल - सं. विजेन्द्र स्नातक, गुलाबराय - पृ. 229

उन्होंने सूर-काव्य के सभी मार्मिक एवं हृदयहारी स्थलों की छानबीन की है । तुलनात्मक शैली से यथावसर सूर की खूबियों और कमज़ोरियों का बड़ी समीचीन शैली से इसमें वर्णन किया गया है ।

"गोस्वामी तुलसीदास" (तुलसी ग्रंथावली की भूमिका) में शुक्लजी ने तुलसी-काव्य के अनुभूति एवं अभिव्यक्ति-पक्ष की प्रमुख बिंदुओं पर प्रकाश डाला है । उनके अनुसार मनुष्य जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का सन्निवेश, तुलसी-काव्य में है । रामविलास शर्मा के मत में "इसकी मौलिकता इसमें है कि शुक्लजी ने इसमें कला का आधार वास्तविक जीवन को माना है, भक्ति का आधार जीवन की स्वीकृति मानी है ।"[1]

अनुवादक शुक्ल

शुक्लजी के अनूदित ग्रंथों में "बुद्धचरित", "शशांक", "विश्व प्रपंच", "आदर्श-जीवन", "राज्य-प्रबंध-शिक्षा", "मेगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन", "कल्पना का आनंद" आदि विशेष उल्लेखनीय हैं । "बुद्धचरित", "विश्वप्रपंच" और "कल्पना का आनंद" का उल्लेख पहले हुआ है । "शशांक" राखालदास वन्द्योपाध्याय का बंगला उपन्यास है । इसका आधार ऐतिहासिक है । लेकिन शुक्लजी ने इसके कथानक में कुछ परिवर्तन किया है ।

---

1. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल और हिन्दी आलोचना - डॉ. रामविलासशर्मा - पृ. 115

मूल रचना दुःखान्त है, शुक्लजी ने उसे सुखान्त बना दिया । स्माइल की प्रसिद्ध अंग्रेज़ी पुस्तक "प्लेन लिविंग आन्ड हाई थिंकिंग" का रूपांतर है "आदर्श-जीवन" । बालकों और युवकों को नीति और सदाचार की शिक्षा देने में तथा उनके चित्त में उत्तम संस्कार उत्पन्न करने में यह सहायक है । ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विषयों की पुस्तकों में डॉ. श्वानवक की "माइनर हिंदूस" का अनुवाद प्रमुख है । इनके अतिरिक्त अंग्रेज़ी के अनेक स्फुट लेखों का अनुवाद भी उन्होंने किया है ।

संपादक तथा अध्यापक

शुक्लजी के सर्जकत्व का एक और पहलू हैं उनका संपादक व्यक्तित्व । संपादक के रूप में उनकी सफलता निर्विवाद है । "हिन्दी शब्द-सागर" के संपादन में उनका विशेष हाथ था । "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" के संपादक पद पर वे अनेक वर्षों तक रहे थे । अलावा इसके, "तुलसी ग्रंथावली", "जायसी ग्रंथावली" और "भ्रमरगीतसार" का संपादन कार्य भी महत्वपूर्ण है । अध्ययन-अध्यापन में भी उनकी प्रतिभा का पुट सर्वत्र दृष्टिगत होता है ।

कहानीकार और नाटककार

शुक्लजी की "ग्यारह वर्ष का समय" (1903) हिन्दी साहित्य की आरंभिक मौलिक कहानी है ।[1] उनका "हास्य-विनोद" नामक नाटक प्रकाशित माना जाता है ।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. नगेन्द्र - पृ. 522
2. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल और उनकी कृतियाँ - डॉ. दुर्गाशंकर मिश्र - पृ. 10

शुक्लजी के व्यक्तित्व का ऐतिहासिक महत्व है । उनका
तित्व उनके मेधावी व्यक्तित्व का विवेचन है । उनके समय एक स्वतंत्र साहित्यिक
धा के रूप में समीक्षा का विकास हुआ । युगीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रति
क्लजी सचेत थे । जीवन और साहित्य के संबंध के आधार पर उन्होंने समीक्षा
ा मानदंड निर्धारित किया । उन्होंने तत्कालीन प्रचलित उन्हीं सिद्धांतों को
हण किया, जो उनकी अपनी समीक्षा के अनुकूल थे । जो उन्हें स्वीकार करने
ोग्य नहीं थे) उनके प्रति अपना विरोध भी उन्होंने व्यक्त किया । इसप्रकार
न्होंने एक नयी परंपरा की शुरूआत की । पाश्चात्य और पौरस्त्य, प्राचीन
ौर नवीन का समन्वय करके समीक्षा को उन्होंने एक नया साँचा दिया । नलिन
वलोचन शर्मा ने अपनी पुस्तक "साहित्य का इतिहास-दर्शन" में कहा है कि
क्लजी से बड़ा समीक्षक संभवत: उस युग में किसी भी भाषा में नहीं था ।[1] वे
ाव्य में रस के महत्व को स्वीकार करनेवाले आचार्य थे । लेकिन रसोन्मुखी होते
ए भी संस्कृत के अन्य काव्य-संप्रदायों की उपेक्षा उन्होंने नहीं की है । आधुनिक
ोविज्ञान, समाज-शास्त्र और भारतीय काव्य-शास्त्र का समन्वय करते हुए
न पर उन्होंने नये ढंग से विचार किया । अनेक पाश्चात्य समीक्षकों और उनके
हित्य-संबंधी सिद्धांतों का उल्लेख पहली बार भारत में शुक्लजी ने ही किया ।
ॅ. नामवरसिंह के शब्दों में - "शुक्लजी ने समीक्षा को निष्क्रिय व्याख्या से
गे बढ़ाकर सक्रिय परिवर्तनकारी सामाजिक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया ।"[2]

---

1. साहित्य का इतिहास- दर्शन - डॉ. नलिन विलोचन शर्मा - पृ. 89
2. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - डॉ. नामवरसिंह - पृ. 112-113

निष्कर्ष

आधुनिक हिन्दी समीक्षा, संस्कृत भाषा की ऋणी है । संस्कृत समीक्षा, प्रौढ़ और मौलिक चिन्तन-प्रणाली से युक्त थी । इसमें तीन कोटि के आचार्य थे - मर्मज्ञ उद्भावक, व्याख्याता और शिक्षक कवि । इन आचार्यों के विभिन्न सिद्धांतों के आधार पर हिन्दी समीक्षा का विकास हुआ । मध्यकाल और भक्तिकाल में समीक्षा, काफी विकास नहीं कर पायी । रीतिकालीन समीक्षा, संस्कृत की समीक्षा का अनुकरण मात्र थी । आधुनिक समीक्षा का वास्तविक विकास शुक्लजी के साथ हुआ है । उनके पहले आलोचना-क्षेत्र में जो सिद्धांत प्रचलित थे, वे अधिकतर वस्तुनिष्ठ नहीं थे । शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य के लिए एक आत्मनिर्भर समीक्षा-पद्धति का आविष्कार किया । लोकजीवन परिपार्श्व और सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उन्होंने साहित्य का मूल्यांकन किया । उन्होंने भारतीय और यूरोपीय, सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का समन्वय करके हिन्दी में आलोचना का नया मार्ग प्रशस्त किया । वे स्वतंत्र, गंभीर और मौलिक व्यक्तित्व के धनी थे । उनकी सामान्य प्रतिभा की अभिव्यक्ति, प्रायः साहित्य के नाना क्षेत्रों में सफलता के साथ हुई । वे एक साथ कवि, निबंधकार, इतिहास लेखक, समीक्षक एवं अनुवादक थे । उनकी सभी कृतियों में उनका आलोचनात्मक व्यक्तित्व उभर आता है । उनकी असाधारण प्रतिभा, अगाध-अध्ययन, ग्रहण-शक्ति एवं अचूक स्थापना-प्रणाली, उनकी आलोचना को अधिक प्रभावशाली बनाती है । उनकी सृजनात्मक शक्ति प्रायः साहित्य के सभी क्षेत्रों में समान रूप से उच्चस्तर की थी । शुक्ल संस्थान के समीक्षकों में गुलाबराय, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गंगाप्रसाद पांडेय, रामविलास शर्मा, नगेन्द्र, आनंदप्रकाश दीक्षित आदि प्रमुख हैं । शुक्लजी ने समीक्षा को जो दिशा दी है, इसी के आधार पर हिन्दी समीक्षा का सर्वकालीन स्वरूप निश्चित हुआ ।

अध्याय - दो

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र और रिचर्ड्स

I.A.RICHARDS

अध्याय - दो

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र और रिचर्ड्स

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा समृद्ध और विस्तृत है । पश्चिमी सभ्यता और विज्ञान का उदय यूनान में हुआ । ईसा से लगभग पाँच शताब्दी पूर्व यूनानी सभ्यता उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच चुकी थी । काव्य, कला, संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि का विकास यूनान में हुआ । इसी युग में साहित्य, उसके रूप, प्रयोजन आदि के संबंध में भी बड़ी गहराई से विचार करना शुरू हुआ ।

ग्रीक साहित्य महान था, पर उसका क्षेत्र सीमित एवं संकीर्ण था । ग्रीक समीक्षा मुख्यतः त्रासदी तक ही सीमित रही । उसमें अन्य काव्य-रूपों का उल्लेख बहुत कम ही हुआ है । इनके बावजूद ग्रीक आचार्यों की उपलब्धियाँ उनकी तीव्र अंर्तदृष्टि, गंभीर विश्लेषण एवं व्यापक तर्क विचारणा के कारण अनुपम हैं ।

वस्तुतः काव्य-शास्त्र का प्राचीनतम निदर्शन हमें एरिस्टोफेनिज़ (405 बी॰सी) के हास्य नाटक "फ्राग्स" में मिलता है ।[1] यूरीपिडिज़ और

---

1. An introduction to English Criticism - Birjadish Prasad - P No-14.

इत्काइलस के विवाद के रूप में इसमें तुलनात्मक आलोचना का प्रारंभिक रूप मिलता है । इसमें यह स्थापित किया गया है कि मानव को उत्कृष्ट बनाने में सहायक कला ही मनुष्य को स्वीकार्य हो सकती है । साहित्यिक कृति के विशद विश्लेषण एवं सूक्ष्म निरीक्षण पर अवलंबित आलोचना पद्धति का उपयोग सर्वप्रथम प्राचीन यूनान में हुआ ।

यूनानी समीक्षा

यूनान में हमें काव्यशास्त्रीय तीन महत्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हैं - प्लेटो का "गणतंत्र", अरस्तू का "काव्य-शास्त्र" और लोंइजनस का "काव्य में उदात्त तत्व" । प्राचीन यूनानी चिन्तकों की यही धारणा थी कि कविता दैविक प्रेरणा से जन्म लेती है । इस धारणा को निश्चित पदावली में सर्वप्रथम प्लेटो ने व्यक्त कर दिया ।

प्लेटो (427 - 347 ई.पू.)

ग्रीक आचार्य प्लेटो मूलतः एक समाजशास्त्री आदर्श आचार्य थे । पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के इतिहास का आरंभ उन्हीं से माना जाता है । अपने "गणतंत्र" में उन्होंने सिर्फ नैतिक और दार्शनिक विचारों के प्रभाव से कला का निंदा की । उन्होंने शुद्ध उपयोगितावादी दृष्टि से साहित्य पर विचार किया । आदर्श गणराज्य के नागरिकों में सत्य, न्याय और सदाचार

की प्रतिष्ठा करने योग्य साहित्य को उन्होंने महत्वपूर्ण माना है । उनकी दृष्टि में काव्य मिथ्या संसार की मिथ्या अनुकृति है, अतः वह सत्य से तिगुना दूर स्थित है ।[1] उनके अनुसार काव्य समाज पर अशुभ प्रभाव डालता है । अतः कवि राज्य से निष्कासन के लिए योग्य है ।[2] अपनी काव्य-संबंधी विवेचना के माध्यम से, अनजाने उन्होंने एक चिरंतन सत्य की व्यंजना की कि कविता में आत्मा को अभिभूत कर लेनेवाला एक ऐसा तत्व है, जिसकी न परिभाषा संभव है न विश्लेषण ।

अरस्तू ﴾ 384 - 322 ई॰पू﴿

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने अपनी मौलिक प्रतिभा के बल से काव्य-विवेचन को नये आयामों से जोड़ा । उनका काव्य-विवेचन त्रासदी के संदर्भ में हुआ था । उन्होंने काव्य की एक स्वतंत्र सत्ता प्रतिपादित की । काव्य, चित्र और संगीत पर एक साथ विचार करते हुए उन्होंने अनुकरण की वृत्ति को काव्य-जन्म का पहला कारण माना ।[3] अनुकरण से उनका तात्पर्य सिर्फ नकल नहीं, बल्कि संवेदना, अनुभूति, कल्पना और प्रयोग द्वारा अपूर्ण को पूर्ण बनाना है । उनके अनुसार काव्य तथा किसी भी अन्य कला में शुद्धता की कसौटी एक नहीं

---

1. And the tragic poet is an imitator, and therefore like all imitators, he is thrice removed from the truth-Republic-Plato- Book -V. P.No-438

2. पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परंपरा - सं. नगेन्द्र - पृ. 20

3. Literary Criticism - A Short History - Wimsatt and Brooks - P.No- 36.

त्रासदी की परिभाषा में उन्होंने विरेचन-व्यापार (Catharsis) की भी चर्चा की ।[1] करुणा एवं भय के भावों को जगाकर उनका विरेचन करना उन्होंने त्रासदी का प्रयोजन माना ।

लोंइजनस (ईसा की प्रथम अथवा तृतीय शती)

यूनानी समीक्षकों में लोंइजनस ने पहली बार काव्य की सर्जनात्मके प्रवृत्ति पर बडी गहराई के साथ विचार किया । अपने ग्रंथ "ऑन द सब्लैम" में उन्होंने काव्य में उदात्त तत्व की प्रतिष्ठा की । उनके अनुसार काव्य केवल आनंद या शिक्षा का साधन न होकर अलौकिक आनंद में विभोरकर मनुष्य को दिव्यतर स्थिति में पहूँचा देनेवाला आदर्श उपकरण है ।[2] काव्यगत औदात्य के पाँच उद्गम स्रोत उन्होंने बताये-विचारों की महानता, भावों की शक्तिशाली प्रतिपादन, अलंकारों की समुचित योजना, उत्कृष्ट अभिव्यक्ति और गरिमामय रचना-विधान ।[3] काव्य की समग्रता और समन्वय प्रभाव को ध्यान में रखते हुए उन्होंने जिन सिद्धांतों का प्रणयन किया है, वे अनुभूति और अभिव्याक्त के व्यापक संदर्भ पर अत्यधिक प्रभावात्मक सिद्ध होते हैं ।

---

1. Poetics - Aristotle - Page No. 316
2. काव्यशास्त्र - डा. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - पृ. 485
3. History and Principles of Literary Criticism - Dr- Raj Pati - P-No. 74-75

रोमन समीक्षा (प्रथम शताब्दी ई.पूर्व)

इस शताब्दी में रोमी आक्रमणकारियों द्वारा महान यूनानी सभ्यता का सर्वनाश हुआ । लेकिन ग्रीस ने सांस्कृतिक दृष्टि से रोम पर विजय पायी । रोमी मस्तिष्क पर यूनानी सांस्कृतिक उपलब्धियों का इतना प्रभाव पडा था कि सभी क्षेत्रों में वे यूनान का अनुकरण मात्र करते रहे । साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में भी यह बात दृष्टिगोचर होती है ।

रोमन समीक्षा के प्रमुख हस्ताक्षर हैं - होरेस (65-8 ई.पू) । उनकी रचना "आरस पोएटिका" में अरस्तू के विचारों की प्रतिध्वनि मिलती है । काव्य के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने सर्वप्रथम औचित्य तत्व पर विशेष ध्यान दिया । काव्य-रचना उनके अनुसार चित्ररचना के समान है । विभिन्न अंगों का आकार और समन्वय काव्य में उचित एकत्व का विधान करता है । उन्होंने कवि के लिए कलात्मक संवेदना का होना अनिवार्य माना । मौलिकता का अभाव होते हुए भी तत्कालीन काव्य-दृष्टि को समझने में होरेस के काव्य-संबंधी विचार सहायक है । इस युग में सिसरो, क्विंण्टालियन, डिमैट्रियस आदि आचार्यों ने भाषण-कला, रचना-शिल्प आदि पर ज़ोर देते हुए गुण-दोष विवेचन प्रस्तुत किया ।

रोमी साम्राज्य के पतन तथा मसीहा धर्म के उत्थान के साथ

यूरोप में अंधकारयुग का आरंभ हुआ ।[1] यह एक ऐसा समय था, जो सर्जनात्मक गतिविधियों के अभाव में बिलकुल शून्य था । साहित्यकार की स्वतंत्रता का निषेध इस काल में शुरू हुआ । इस युग के विद्वानों ने अधिकतर धार्मिक सिद्धांतों की व्याख्या पर विचार करना पाप माना । इस काल में यूरोप में चर्च की प्रभुता पूर्ण रूप से स्थापित हो गयी थी । कॉथलिक धर्म, धर्मनिरपेक्ष साहित्य को हेय समझा जाता था । वे कविता ही नहीं, नृत्य, गीत आदि ललित कलाओं के भी विरोधी थे । कविता के संबंध में उनका आक्षेप था कि कविता मनुष्य को भौतिक सुखों की तरफ़ ले जाती है, उसे धार्मिक चिन्तन से हटाती है ।[2] परिणामस्वरूप साहित्य और कलाओं के साथ समीक्षा का विकास भी इस युग में नहीं हो सका । परन्तु इस निष्क्रिय काल को सक्रिय बनाते हुए 12 वीं शताब्दी में इटैलियन साहित्यकार दान्ते ने अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए "डिवाइन कामदी" की रचना की ।[3] उन्होंने विषयगत दृष्टि से नई बातें प्रस्तुत करने की कोशिश की । भाषा की स्वाभाविकता और लोकप्रियता को ध्यान में रखते हुए, जनभाषा में रचना करना उन्होंने उचित समझा । भाषा के क्षेत्र में जो परिवर्तन दान्ते लाये थे, उसने आगे चलकर वर्डस्वर्थ और कॉलरिज के समय में नया रूप धारण कर लिया ।

पुर्नजागरण युग (1400 -1600 ई. वीं तक)

1400 से 1600 ईवीं तक का समय पूर्नजागरण का समय था । इस युग में बडी द्रुतगति से समीक्षा का विकास हुआ । साहित्य के क्षेत्र से धर्म की

---

1. पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांत - डॉ. केसरीनारायण शुक्ल - पृ. 116-117
2. The making of literature - Scoot James - P.No. 96-100
3. Ibid - P- No. 102.

प्रभुता का बहिष्कार हो गया था । प्राचीन यूनानी ग्रंथों का पुर्नमूल्यांकन एवं पुनराख्यान होने लगा । मुद्रण यंत्र के आविष्कार से ज्ञान का प्रसार तीव्र बन गया । लेकिन इस समय के विद्वानों का ज्ञान केवल लैटिन तक सीमित था । फिलिप सिडनी (1554-1586 ई.) और बेन जॉनसन (1573-1627 ई) ने इस काल की समीक्षा के आलोक को अधिक सार्थक बनाया । सिडनी ने काव्य को नैतिकता और आनंद से संबद्ध कराया । उन्होंने आनंद और शिक्षा को काव्य की उपलब्धियाँ मानीं । काव्य को अनैतिकता से मुक्त कर, मध्ययुगीन अवधारणा को उन्होंने असत्य सिद्ध किया ।[1] उन्होंने काव्य को महान दार्शनिक और नैतिक मूल्यों के समर्थन में सक्षम माना ।

पर्व की प्रभुता की समाप्ति के बाद, कवि पूर्ण आज़ाद बन चुका था । वह सभी साहित्यिक नियमों को तोडने लगा । रचनाकार की इस असीम आज़ादी का विरोध बेन जॉनसन ने किया । शेकस्पियर की कृतियों के आधार पर आलोचना के सिद्धांतों का विवेचन करते हुए उन्होंने कवि की आज़ादी पर अंकुश लगाया । पुर्नजागरण युग में आलोचना-साहित्य की सर्जनाएँ बहुत मात्रा में हुई । फिर भी इस युग के विचारकों में मौलिक चिन्तन का अभाव था ।

नव्यशास्त्र युग (16वीं शती से 18 वीं शती तक)

सोलहवीं-अठारहवीं शती में साहित्य-सृजन का केन्द्र फ्रांस था । तब से लेकर आज तक फ्रेंस अनेक साहित्यिक आन्दोलनों का केन्द्र रहा है ।

---

1. History and principles of literary criticism - Dr- Raghukul Tilak - P.No.- 128.

फ्रेंच कवि रोनसार ने कवि-प्रतिभा और उसके कल्पनामय स्वरूप को पूर्ण स्वातंत्र घोषित किया । इससे साहित्यक क्षेत्र में वैचारिक अव्यवस्था फैल गयी । परंतु यह अव्यवस्था अल्पायु थी । स्टीफन मालेर्ब ने रोनसार के विचारों का कटु विरोध किया । इन दोनों के मतभेदों और तर्कों के परिणामस्वरूप समीक्षकों ने इस सिद्धांत की स्थापना की कि अन्य क्षेत्रों के समान काव्य-निर्माण के लिए भी अनुशासन की ज़रूरत है । साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में अनुशासन को प्रमुखता देते हुए एक नवीन आलोचना पद्धति का आविर्भाव हुआ जो "नव्यशास्त्रवाद" से विख्यात है । इसके समर्थक प्राचीनों का अन्धानुकरण करने के विरोधी थे । उनकी दृष्टि में प्राचीन संपत्ति का बुद्धि और विवेक के साथ उपयोग करना ही अच्छा है । फ्रेंस तथा अन्य युरोपीय देशों में नव्यशास्त्रवाद का प्रभाव पडा, लेकिन इंग्लैंड उससे सर्वाधिक प्रभावित था । कविता और समीक्षा दोनों क्षेत्रों में इंग्लैंड ने नव्यशास्त्रवाद को स्वीकार किया । काव्य में पोप तथा आलोचना में ड्राइडन, अडिसन, डॉ. जानसन आदि इसके समर्थक थे । पोप ने कविता में स्वाभाविकता को प्रमुखता दी । पोप के विचार से लेखन में सच्ची सहजता अभ्यास से आती है, संयोग से नहीं ।[1] ड्राइडन (1610-1700 ई.) ने एक हद तक नव्यशास्त्रवाद के विविध विचारों को स्वीकार किया, साथ साथ नये विचारों को भी प्रश्रय दिया । उन्होंने साहित्य में सौन्दर्य तत्व की महत्ता पर अधिक बल दिया । साहित्य का उद्देश्य, उनकी दृष्टि में शिक्षा से अधिक मनोरंजन है ।[2] ड्राइडन ने प्राचीनकाल के आलोचनात्मक दृष्टिकोण को युग की माँग के अनुसार परिवर्तित करके नई समीक्षात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया । उन्होंने साहित्य को एक निरंतर विकासशील प्रक्रिया के रूप में देखा । काव्य को उन्होंने कवि-

---

1. आलोचना के सिद्धांत - शिवदानसिंह चौहान - पृ. 102

2. The making of literature - Scott James - P.No. 141.

संदर्भ, आलोचक संदर्भ और सामाजिक संदर्भ में देखा । सिद्धांत और साहित्य के ऐतिहासिक अंतराल का तीव्र बोध उनकी आलोचना पद्धति में लक्षित होता है । अंग्रेज़ी में विवरणात्मक आलोचना (Descriptive Criticism) का श्रीगणेश करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है । अडिसन ने कल्पना को प्रभावित करना काव्य का लक्ष्य माना ।

डॉ. जॉनसन (1709 - 1784 ई.) का समय नव्यशास्त्रवाद और स्वच्छन्दतावाद के संघर्ष का काल था । औद्योगिक क्रांति और पुनर्जागरण की चेतना के कारण पाश्चात्य देशों में व्यक्तिवादी चेतना का महत्व बढने लगा । आदर्श संहिताओं से लोगों का विश्वास नष्ट हुआ और रोमांटिक संकल्पना का उदय होनेवाला था । इस अवसर पर डॉ. जॉनसन ने प्राचीन स्वस्थ परंपरा का समर्थन करने के साथ, परिवर्तन को भी महत्व देते हुए समीक्षाएँ प्रस्तुत की ।[1] उन्होंने समीक्षा को एक गंभीर कार्य के रूप में स्वीकार किया । प्रतिभा, परंपरा, परिवर्तन इन तीनों में एक प्रकार की समन्वयात्मकता को अपनाते हुए उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संपन्न आलोचना-पद्धति का विकास किया ।

इंग्लैंड के अतिरिक्त जर्मनी के साहित्य पर भी नव्यशास्त्रवाद का प्रभाव पडा । प्रसिद्ध जर्मन कवि, नाटककार तथा आलोचक लेसिंग ने "लाओकून" नामक एक ग्रंथ प्रकाशित किया । यह साहित्य आलोचना के इतिहास

---

1. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य -सिद्धांत - डॉ. गणपतिचन्द्रगुप्त - पृ. 18

में एक सीमाचिह्न माना जाता है ।[1] जर्मनी के गेटे और शिलर ने भी वैज्ञानिक दृष्टि से साहित्य की व्यावहारिक समस्याओं पर युगीन परिस्थितियों के अनुरूप विचार किया ।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा ﴾ 19 वीं शताब्दी ﴿

उन्नीसवीं शताब्दी में स्वच्छन्दतावाद ने समस्त नव्यशास्त्रवादी सिद्धांतों और नियमों के विरुद्ध विद्रोह किया । इस युग के व्यक्तिवादी आलोचकों ने अपने लिए एक स्वतंत्र धारा उद्घोषित की । उन्होंने काव्य को कोरा अनुकरण न मानकर काव्य की भावात्मक अवधारणा और ऐतिहासिक दृष्टिकोण का समर्थन किया । इस काल में काव्य में आनंद तत्व को पूर्ण स्वीकृति मिल गयी । वर्ड्स्वर्थ ﴾1770-1850﴿ के "लिरिकल बैलड्स" के प्रकाशन के साथ स्वच्छन्दतावादी चिन्तनधारा सशक्त और सुदृढ़ बन गयी । काव्य की सर्जनात्मक भूमिका को युगचेतना के अनुरूप उन्होंने प्रस्तुत किया । उन्होंने लोकभाषा को काव्यभाषा के रूप में स्वीकार किया ।[2] कवि के प्रबल मनोरोगों को प्रमुखता देते हुए उन्होंने कहा कि काव्य शांत क्षणों के सहज भावोद्रेक के रूप में रचित है ।[3]

वर्ड्स्वर्थ के समकालिक कॉलरिज ﴾1772-1834﴿ ने कल्पना को काव्य की आत्मा माना । "बयोग्रफिया लिटरेरिया" में उन्होंने कल्पना शक्ति

---

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा - नगेन्द्र - पृ. 8
2. Literary Criticism - Ram Awadh Dwivedi, Dr.Vikramaditya Rai- P.No. 249.
3. All good poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings - Ibid - P-249.

के आधार पर भाव और विचार के द्वन्द्व का समाहार किया । काव्य-सृजन के लिए ही नहीं, उत्कृष्ट आलोचना के लिए भी उन्होंने कल्पना को अनिवार्य माना । रोमांटिक कविता के प्रतिभाशाली कवि शैली ने कॉलरिज के सिद्धांतों का पूरा समर्थन किया । वे कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति मानते थे ।[1] प्लेटो के समान वे भी कविता को प्रकृति का अनुकरण मानते थे ।

साहित्य के क्षेत्र में दार्शनिक चिन्तन के फलस्वरूप 19 वीं शदी में सौन्दर्यशास्त्र का आविर्भाव हुआ । सौन्दर्य और सुन्दर को लेकर दार्शनिकों ने नाना प्रकार की विवेचनाएँ प्रस्तुत कीं । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, चिन्तनधारा में एक नया मोड आया । इस समय की आलोचना में स्वच्छंदता, व्यक्तिकता एवं आनंदवादिता के स्थान पर पुन: सामाजिक, नैतिक एवं आचारमूलक मूल्यों का समावेश हुआ । मैथ्यू आर्नल्ड, कारलैल, न्यूमैन, रस्किन, टॉलस्टाय, आदि इस युग के प्रमुख समीक्षक हैं । मैथ्यू आर्नल्ड (1822 - 1885 ई) ने साहित्य और संस्कृति के परस्पर समन्वय का प्रयास किया ।[2] वे काव्य को जीवन की आलोचना और शाश्वत मूल्यों का स्रोत मानते थे ।[3] उनका विश्वास था कि भविष्य में कविता धर्म और दर्शन की स्थानापन्न बन जाएगी । वे यह भी कहते थे कि विकास के परिणामस्वरूप लोग काव्य की आकर्षणीयता से अलग हो जाएंगे । आर्नल्ड की तरह रस्किन और तालस्ताय ने भी कला और

---

1. Poetry is the expression of imagination - Literary Criticism -Ram Awadh Dwivedi- P.No.- 295
2. History and Principles of Literary Criticism- Dr.Raj Pati- P.No. 274.
3. Literary Criticism - A Short History - Wimsatt and Brooks- P.No. 447.

साहित्य का संबंध जीवन के उच्चादर्शों से माना । उनकी काव्य-संबंधी व्याख्या समाज-कल्याण पर आधारित थी । परंतु उनकी विचारधारा का प्रबल विरोध हुआ । आचार और नैतिकता के बंधनों से कला को सर्वथा मुक्त करनेवाला एक नया संप्रदाय अस्तित्व में आया, जो "कलावाद" नाम से विख्यात है । चित्रकार हिसलर तथा आइरिश लेखक आस्कर वाइल्ड कलावाद के प्रतिष्ठापक थे । प्रसिद्ध अंग्रेज़ी समालोचक वाल्टर पेटर ने कला के मूल्यांकन के लिए सौन्दर्य भावना से इतर किसी भी कसौटी को स्वीकार करना उचित नहीं माना ।[1] आगे चलकर उन्होंने स्वीकार किया कि उत्तम कला का संबंध हमेशा मानवीय साध्यों से बना रहता है । उन्होंने कविता में सत्य, उदात्त विचार, गरिमा आदि सद्गुणों की प्रतिष्ठा की । फ्रेंच में फ्लोबेयर, ज़ोला जैसे विचारकों ने यथार्थवादी प्रकृतवादी संप्रदायों का अभ्युदय किया ।

बीसवीं शताब्दी आलोचना

बीसवीं शताब्दी, अनेक कारणों से नवीनता का युग है । औद्योगीकरण, यंत्रीकरण, नगरीकरण से मानवीय जीवन में आमूल परिवर्तन आ गया । इस युग में अनेक साहित्यिक आन्दोलन उठ खडे हुए । उनके अनुरूप आलोचना में भी अनेक नई प्रवृत्तियाँ लक्षित हुई । इस युग में प्रभाववाद, बिंबवाद, अतियथार्थवाद, प्रतीकवाद, मनोविश्लेषणात्मक विचारधारा जैसे काव्यशास्त्र के अनेक नये वाद आरंभ हो उठे । इस शताब्दी के प्रथम दशक में अमेरिका के

---

1. The making of literature - Scott James - P No.294-315.

नीतिवादी विचारक अर्विंग बैबिट ने एक गंभीर आलोचना का सूत्रपात किया । वे स्वच्छन्दतावाद के कटु विरोधी थे । अंग्रेज़ी दार्शनिक आलोचक टी. ई. ह्यूम ने भी इसी रास्ते पर आगे बढ़ा । उनकी आलोचना भी नैतिकता की भावना से ओतप्रोत थी । उन्होंने स्वच्छन्दतावादी काव्य के प्रति बिंबवादी विद्रोह को नेतृत्व दिया । परन्तु उनके समसामयिक दार्शनिक समीक्षक क्रोचे (1896-1952) ने काव्य-सर्जन और आस्वादन को नितांत व्यक्तिसत्य स्थापित करना चाहा । उन्होंने काव्य को अभिव्यंजना मान लिया । वे सृजन का आधार सहजानुभूति की क्रिया मानते थे, जो मन में ही पूर्णता प्राप्त कर लेती है । कलाकार उसकी ओर आत्मसुख के कारण प्रवृत्त होता है ।

बीसवीं शताब्दी पर मार्क्स (1818-1883) और फ्राइड (1856-1939) का प्रभाव अतुलनीय है । उनके दार्शनिक निष्कर्षों का प्रभाव, केवल विचारधारा पर ही नहीं, बल्कि सुकुमार कलाओं पर भी पडा । साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र को भी उन्होंने अपने विचारों से प्रभावपूर्ण बनाया । फ्राइड साहित्य का सृजन अचेतन में मान लेता है । वे प्रत्येक कलाकार को एक हद तक स्नायुरोगी मानते हैं । उन्होंने सभी मानवीय व्यापारों को कुंठा के परिणाम के रूप में चित्रित किया है । उनके सिद्धांत के प्रसार से संसार की साहित्यालोचन सरणी ने एक नई दिशा ग्रहण की । मनोविश्लेषणशास्त्र का उपयोग साहित्य और समीक्षा में हुआ । मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने साहित्य समीक्षा को एक नई दृष्टि प्रदान कर दी । उन्होंने कला सृजन का लक्ष्य सामाजिक दायित्व माना । आगे चलकर क्रिस्टोफर कोडवाल ने मार्क्स के सिद्धांतों के आधार पर अंग्रेज़ी साहित्य का विश्लेषण किया ।

आधुनिक साहित्य-चिन्तन पर अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव भी कम नहीं है । अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टि अपनाई है जिसके अनुसार मानव-जीवन का भविष्य एकदम उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता । अस्तित्ववादी केवल विचारक ही नहीं है, उनके पक्ष में साहित्यकारों का एक बडा दल भी काम कर रहा है । अस्तित्ववादी दर्शन के अनुसार मनुष्य स्वयं अपने जीवन और जगत् के भाग्य का आत्यंतिक नियामक नहीं है ।

इस शताब्दी में एक नये संप्रदाय ने साहित्य-आलोचना को एक नूतन तथा वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत कर दिया । इसके अनुसार साहित्य-आलोचना तभी वैज्ञानिक बन सकती है, जब उसमें मनोवैज्ञानिक पद्धति ग्रहण की जाती है । इस समय के प्रभावशाली आलोचक टी. एस. इलियट (1888-1965 ई) ने रूढिबद्ध स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध विद्रोह किया । वे कहते हैं कि कवि का मूल्यांकन व्यष्टि-रूप में नहीं होना चाहिए । कवि, परंपरा श्रृंखला की एक कडी है । इसलिए परंपरा से अलग कवि की आलोचना संभव नहीं । उन्होंने कला को निर्वैयक्तिक घोषित किया ।

इसी काल में ऐसे भी विचारक हुए, जो मनुष्य के मनोभावों के साथ मनोभावों के प्रसरण के क्षेत्र को भी महान मानते हैं । डॉ. ऐ. ए. रिचर्ड्स (1893-1979) इस कोटि के समीक्षक हैं । जैसे जॉर्ज वाट्सन ने बताया है - रिचर्ड्स नई समीक्षा के जनक हैं । वे बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रभावशाली क्रांतिक हैं । सौन्दर्यशास्त्री के रूप में अपने ज्ञान और प्रभाव के कारण, नये

समीक्षकों में रिचर्ड्स की अपनी स्वतंत्र प्रतिष्ठा है ।[1] मनोविज्ञान तथा भाषा-विज्ञान के अनेक तत्वों से संपुष्ट करके उन्होंने समीक्षा को एक नया आयाम दिया ; अभिव्यंजना की एक नई प्रणाली शुरू की ।[2]

रिचर्ड्स के आलोचना-सिद्धांतों पर विचार करने के पहले उनका जीवन और साहित्यिक साधना का ज़िक्र करना समीचीन होगा ।

ऐ. ए. रिचर्ड्स - व्यक्तित्व और कृतित्व

डॉ. ऐवर आमस्ट्रोंग रिचर्ड्स, पाश्चात्य नई समीक्षा के मूर्धन्य समीक्षक हैं । ये केंब्रिज विश्वविद्यालय के प्रख्यात अंग्रेज़ी स्कूल के प्रारंभकालीन अध्यापकों में थे । उनका शैक्षिक अनुशीलन यद्यपि दर्शन में हुआ, तथापि सौन्दर्यशास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थविज्ञान की अभिरुचि ने इन्हें साहित्य की ओर आकृष्ट किया । ये नव्य-समीक्षा के प्रेरणा-स्रोत हैं । समीक्षा में अपने समय में प्रचलित परंपराओं का खंडन करनेवाले मूर्तिभंजक समीक्षक थे, रिचर्ड्स ।[3] उनकी दृष्टि एकदम मनोवैज्ञानिक है । मानसिक प्रक्रियाओं और साहित्य के संबंधों के विशद अध्ययन के द्वारा उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा को एक नयी दिशा प्रदान कर दी।[4] समीक्षा संबंधी अपने मौलिक विचारों को सर्वप्रथम प्रस्तुत करते हुए

The Literary Critics - George Watson - P.No.196.

Literary Criticism - R.A.Dwivedi & V.Ravi- P.No.387

The Literary Critics- George Watson- P.No. 198.

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के सिद्धांत - डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त - पृ. 172

न्होंने समीक्षा को अध्ययन-अध्यापन का विषय बनाया ।

ीवन - परिचय और रचना - संसार

रिचर्ड्स का जन्म, चेषयर शहर के साण्डबोक नामक गाँव में 6 फरवरी 1893 में हुआ । इनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा गाँव में ही हुई । हुत प्रारंभ से ही कविता के प्रति उनकी विशेष रुचि थी । विंपर (Whymper) था रस्किन (Ruskin) की रचनाएँ उन्हें कंठस्थ थीं । क्षयरोग से पीड़ित ोकर विश्राम लेते समय उनके पास जो अवकाश था, उस समय वे श्रेष्ठ किताबों के ध्ययन में लीन रहते थे । इन्हीं दिनों वे किप्लिंग (Kippling) की चनाओं पर मुग्ध हो गये । इरक्तीयस के "द बाटिल ऑफ कोरस" (The Battle of Chorus) से डूलेरस स्विनबेरन् (Dolores Swinburne) बारे में उन्हें पहली बार जानकारी प्राप्त हुई । इस किताब में उन्होंने डूलेरस ा जो पंक्तियाँ देखी, वे उनके मानस-पटल पर अंकित हुई । ऐसा लगता था, पंक्तियाँ उनके विक्षा मन के मार्गदर्शक थी । पाँचवीं कक्षा में पढ़ते समय नके अंग्रेज़ी अध्यापक ने स्वेच्छा से क्लास में विलियम मोरिस (William Morris) ा "द डिफेन्स ऑफ गिनिवेयर" (The defence of Guinevere) ामके कविता सुनायी थी, इन्हें रिचर्ड्स कभी भूल न सके । एक बार क्लास में थन्स के पवित्र फूलों के बारे में अध्यापक ने पूछा तो एकमात्र रिचर्ड्स ही इसका त्तर दे पाये । उसी समय से उनकी पहचान बढ़ी ।

I.A. Richards - Essays in his honor - Edited by Reuben-Brower, Helem Vendler & John Hollander P· No. 18.

उच्चशिक्षा प्राप्त करने की अदम्य अभिलाषा रिचर्ड्स के मन में सक्रिय रही । क्लिफ्टन कॉलेज में पढते समय उन्हें छात्रवृत्ति मिली और पूर्वनिश्चित समय के पहले ही केंब्रिज के मागडलिन कालेज में उच्चशिक्षा के लिए भर्ती हो गये । वहाँ से उन्होंने आचार-विज्ञान (Moral Science) में स्नातक उपाधि प्राप्त कर ली । 1918 में एम.ए, 1932 में डी.लिट की उपाधि भी उन्होंने प्राप्त की । 1926 में उनकी शादी डोरोती ऐलेनर पीटी से हुई ।

रिचर्ड्स पहले ही साहित्य की आलोचना तथा दर्शन के प्रति अतीव तत्पर थे । अपने बौद्धिक चिन्तन तथा मौलिक दृष्टि से उन्होंने अपने गुरूजनों को भी आकर्षित किया था । फलत: 1919 में केंब्रिज स्कूल ऑफ इंग्लीश में आलोचना-सिद्धांतों पर भाषण देने के लिए उन्हें बुलावा मिला । यहाँ से उनका समीक्षात्मक कार्य शुरू होता है । ज्ञानार्जन की बलवती इच्छा तथा अन्वेषणपरता ने रिचर्ड्स को अध्यापन क्षेत्र में सफल बना दिया । उनकी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा समान रूप से मुखर है । एक सफल अध्यापक, कवि, निबंधकार, नाटककार और क्रान्तदर्शी आलोचक के रूप में उनके सृजनात्मक व्यक्तित्व का प्रतिफलन हुआ है । देश-विदेश की विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में प्रवक्ता और आचार्य के रूप में वे काम करते रहे ।

रिचर्ड्स की सभी महत्वपूर्ण कृतियाँ केंब्रिज स्कूल ऑफ इंग्लीश से प्राप्त अनुभवों और ज्ञान पर आधारित हैं । केंब्रिज में विटजेनस्टन तथा भौतिकशास्त्र के विशेषज्ञ ए.ए.रोब से उनका परिचय हुआ । भाषा की संरचना

के विषय में दोनों के बीच विचारों का आदान-प्रदान हुआ । बाद में उन्हें केंब्रिड्ज से नोरथवेल्स (North Wales) की तरफ़ प्रयाण करना पडा और वहाँ वे अन्य व्यापारों में लीन रहे । नोरथ वेल्स में वे एक निपुण पर्वतारोही बन गये । इन्हीं दिनों मानी फोरबस (Manny Forbes) नामक एक महाशय से मिलने तथा उनका व्याख्यान सुनने का मौका उन्हें मिला । स्वयं रिचर्ड्स ने कहा कि ऐसे एक पुण्यात्मा को उन्होंने पहले नहीं देखा है ।[1] उनकी सहायता से वे पर्वतारोह का मार्गदर्शक बन गये । मनोविश्लेषक बनने की अदम्य इच्छा के कारण वे फिर केंब्रिड्ज लौटे । बीच बीच में उनकी तबीयत खराब हो गयी थी । फिर भी वे अध्ययन और अध्यापन में निरंतर निरत रहे । 1926 में उन्होंने मागडलिन कालेज में प्रसिद्ध नैयायिक (logician) डब्लयू ई. जॉनसन, प्रसिद्ध आदर्शवादी दार्शनिक जी.ई.मूर, जे.एम.इ माग टागार्ट (Mg.Taggart) आदि के निदेशन में काम किया । मनोविज्ञान पर जी.ई.मूर के भाषणों का अत्यधिक प्रभाव उन पर पडा ।[2] यद्यपि मूर की सारी बातों को सही रूप से समझने की क्षमता उनमें न थी, तथापि अनजाने ही वे उन्हीं की ओर आकृष्ट हुए । उनसे दुबारा मिलने तथा उनके बारे में अधिक जानने की प्रबल इच्छा होते हुए भी इसका सौभाग्य नहीं मिला । आगे चलकर, 1929-30 में पीकिंग के जिन्गह्वा विश्वविद्यालय में विसिटिंग प्रोफ़ेसर, 1936-38 तक "ओरथोलजिकल इन्स्टिट्यूट ऑफ चैना" में निदेशक, 1959 में

---

1. I.A.Richards - Essays in his honor - Edited by Reuben Brower - An interview with I.A Richards - P.No.23.

2. Complementaries - Un collected Essays I.A.Richards - An interview conducted by B.A. Boucher and J.P.Russo-

ब्रिटिश अकादमी में करस्पोंडिंग फेलो, 1964 में मागडलिन कालेज में ओनररी फेलो आदि आदरणीय पदों पर नियुक्त रहे । चैना में शिक्षा के क्षेत्र में उनकी स्वाभाविक प्रगति हुई । वहाँ नौकरी के साथ अंग्रेजी के प्रचार करने का प्रौढ़ कार्य उन्होंने किया । इसी बीच 1939 में वे अमेरिका गए और 1944 में हारवार्ड विश्वविद्यालय में आचार्य नियुक्त हुए । हारवार्ड महान विद्वानों और दार्शनिकों से अलंकृत विद्यापीठ था । ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में प्रवीण विद्वानों के बीच रहकर उन्होंने वहाँ काम किया । उनके सृजनात्मक व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में हारवार्ड के जीवन ने सबल योगदान दिया । 1963 तक वे इसी विश्वविद्यालय में प्रोफसर रहे ।

कृतित्व

कैंब्रिड्ज तथा हारवार्ड यूनिवर्सिटी के अध्यापकों तथा अन्य महान पंडितों से रिचर्ड्स को साहित्यिक सृजन की काफी प्रेरणा मिली । उनका रचनाकाल पूरी अर्द्धशताब्दी तक फैला है । आरंभ में उनके आलोचनात्मक प्रयास में सी.के. ऑग्डन तथा जेम्स वुड नामक दो साथी रहे हैं । इन दोनों के साथ रिचर्ड्स की मुलाकात कैंब्रिड्ज में हुई थी । तीनों के बीच कला और साहित्य के संबंध में लंबी चर्चाएँ चलती थीं । ऑग्डन तथा जेम्स वुड के साथ सहयोगी लेखन के रूप में 1922 में उनका "द फाउण्डेशनस ऑफ ऐस्थटिकस" नामक प्रख्यात ग्रंथ प्रकाशित हुआ । इस ग्रंथ के प्रकाशन से समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया । इसमें सौन्दर्यशास्त्र में स्वीकृत सौन्दर्य की विविध

---

1. No.1- I.A. Richards - Essays in his honor - Edited by Reuben Brower P.No. 24.

परिभाषाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है । जेमसलुड ने पहली बार बहुआयामी पैनीस मुहावरों का परिचय रिचर्ड्स को दिया ।

बिरूदधारी बनने के पहले ही ऑग्डन का प्रभाव रिचर्ड्स पर था । इन दोनों के विचारों में समानता थी । दोनों ने मिलकर "द मीनिंग ऑफ मीनिंग" की रचना की, जो साहित्य, भाषा-विज्ञान, संप्रेषण आदि विचारों पर इनके बीच जो चर्चाएँ हुई थी, इनका परिणत रूप है । यह अर्थ-विज्ञान की पुस्तक है । शाब्दिक विश्लेषण के प्रति रिचर्ड्स का विशेष झुकाव यह व्यक्त करती है । इसके शीर्षक से स्पष्ट होता है कि रिचर्ड्स स्वयं इसे प्रतीक-विज्ञान कहना पसंद करते हैं ।[1] प्रस्तुत पुस्तक की प्रभूत सामग्री इसके प्रकाशन के पूर्व ही शोध-पत्रिकाओं में आ चुकी थीं ।[2] "फाऊण्डेशनस" में दी गयी सौन्दर्य की परिभाषाओं की विस्तृत व्याख्या की सूची इसमें है । अर्थ-संबंधी प्राचीन एवं समसामयिक मतों का खंडन, रिचर्ड्स ने इसमें किया है । उनके द्वारा निरूपित भाषा का द्विविध प्रयोग, उनकी मौलिकता का परिचायक है । ऑग्डेन के साथ रिचर्ड्स ने और एक सरल किताब भी लिखी - "बेसिक इंग्लीश आन्ड इट्स यूसेस" । इसमें भाषा संबंधी अनेक नये प्रयोगों का परिचय दिया गया है ।

---

1. The meaning of meaning - A study of language upon thought and of the science of symbolism - The meaning of meaning I.A. Richards - Title.

2. I.A. Richards Essays in his honor. Ed. by Reuben Brower P. No. 22-24.

आलोचक के रूप में रिचर्ड्स की ख्याति एवं प्रतिष्ठा के आधार, उनके दो ग्रंथ हैं - "द प्रिंसिपिलस ऑफ लिटररी क्रिटिसिसम" (1924) और "प्राक्टिकल क्रिटिसिसम (1929) । "प्रिंसिपिलस" में मनोविज्ञान पर आधारित समीक्षा की नई पद्धति प्रस्तुत की गयी है । आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर कविता की परिभाषा, उसकी उपयोगिता, वैज्ञानिक सत्य से उसकी भिन्नता, भाषा के द्विविध प्रयोग, उनकी आधारभूत मानसिक प्रक्रियाएँ आदि विषयों की विस्तृत चर्चा इस ग्रंथ में हुई है । ह्यूज गेटस्केल (Huge Gait Skell) "प्रिंसिपिलस ऑफ लिटररी क्रिटिसिसम" को "प्रिंसिपिलस ऑफ इन्टलक्च्वल रक्टिट्यूड (rectitude) कहना पसंद करते थे । रिचर्ड्स को भी यह नाम अधिक स्वीकृत हुआ।

"प्रिंसिपिलस" में निरूपित सिद्धांतों के आधार पर रिचर्ड्स ने "प्राक्टिकल क्रिटिसिसम" की रचना की । इस कृति के द्वारा व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने अपने निजी एवं मौलिक आदर्श प्रस्तुत किये । अंग्रेज़ी काव्यों के आधार पर समीक्षा के कुछ विशेष सिद्धांतों एवं नियमों का संग्रह भी इसमें किया गया है । साहित्यिक समीक्षा के प्रयोग के अतिरिक्त सांस्कृतिक, वैचारिक तथा शैक्षणिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए प्रस्तुत ग्रंथ की रचना हुई है ।[1]

रिचर्ड्स कविता के "defence" के प्रयत्नों से असंतुष्ट थे । वे विज्ञान का सहारा लेकर आलोचना की रक्षा करना चाहते थे । अपने

---

1. Practical Criticism - I.A. Richards. P.No. 3.

"साइन्स और पोयट्री" (1926) नामक पुस्तक के द्वारा कवि और भावक के नोवैज्ञानिक व्यापारों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने काव्य-समीक्षा को एक ज्ञानिक आधार प्रदान कर दिया । पीकोक के "द फोर एसेस ऑफ पोयट्री" । इसका समर्थन किया है । विज्ञान और कविता के कार्यक्षेत्र एवं प्रक्रिया का तना विशद प्रतिपादन दुर्लभ है ।

रिचर्ड्स के दो अन्य प्रमुख ग्रंथ हैं - "इंटरप्रटेशन इन टीचिंग" ौर "फिलोसफी ऑफ रियटोरिक" । बृहदाकार "इंटरप्रटेशन इन टीचिंग" की चना, बहुत कम समय के अंदर हुई थी । "प्रिंसिपिलस" से "साइन्स आन्ड ोयट्री" का जितना संबंध है उतना संबंध "इंटरप्रटेशन इन टीचिंग" का "फिलोसफी ॉफ रियटोरिक" से है ।[1] भाषा के नये प्रयोगों का विश्लेषण इसमें हुआ है । ह पुस्तक अध्यापकों के लिए ही नहीं, सबके लिए उपयोगी है ।

कॉलरिज के कल्पना-संबंधी विचारों से रिचर्ड्स पहले ही भावित थे । कॉलरिज पर उन्होंने "कॉलारज ऑन इमाजिनेशन" (1935) ामक एक किताब भी लिखी । वस्तुत: यह एक तरह की स्वतंत्र पुन:निर्मिति ।[2] इसी प्रकार प्रसिद्ध यूनीस दार्शनिक मेनसीयस के बारे में भी लिखने की

I.A. Richards-Essays in his honor. Ed. by Reuben Brower P.No.29

Ibid - P.No. 33

प्रबल इच्छा उन्हें थी । इसका फल है "मेनसीयस ऑन द मैनड" (Menscius on the mind) नामक पुस्तक । यह अनुवाद से संबद्ध किताब है । "कॉलरिज ऑन इमाजिनेशन" के समान गद्यांश इसमें भी मौजूद है ।

कॉलरिज के द्वारा प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो की तरफ रिचर्ड्स का ध्यान गया । केंब्रिज के लोगों को भी प्लेटो से परिचित कराने के उनके सफल प्रयास का फल है "द रिपब्लिक ऑफ प्लेटो" नामक किताब । यह प्लेटो के "रिपब्लिक" का अंग्रेज़ी रूपांतर है ।

ताढ़ साल की अवस्था में रिचर्ड्स ने "ए लीक इन द यूनिवर्स" नामके एक नाटक भी लिखा । "द राथ ऑफ अखिल्लास", "वै सो सोक्रटीस", आदि उनकी रचनाएँ भी अपनी उद्देश्य-पूर्ति में समर्थ एवं सक्षम हैं ।

एडलर की "हाऊ टु रीड ए बुक" नामक किताब का शीर्षक, रिचर्ड्स को अच्छा नहीं लगा । फलस्वरूप उन्होंने एक नयी कृति की सृष्टि की, वह है "हाऊ टु रीड ए पेज" ।

---

1. I.A. Richards - Essays in his honor. Ed. by Reuben-Brower.P.No. 33

रिचर्ड्स की अन्य प्रकाशित रचनाएँ निम्नलिखित हैं -[1]

समीक्षा
-----

1. स्पेक्यूलेटिव इन्स्ट्रूमन्त्स § Speculative Instruments

2. कॉलरिजस मैनर पोयमस् § Coleridge's Minor Poems

पोयट्रीज़ § Poetries

बियोन्ड Beyond

कोंप्लिमेन्टरिटीस - अनकलक्टड एसेस आन्ड रिव्यूस ।

कविता

गुडबै एरथ आन्ड अदर पोयमस्

द स्क्रीनस आन्ड अदर पोयमस्

इन्टेरनस कोलोक्वीस - पोयमस आन्ड प्लेयुस

नाटक

टुमोरो मोर्निंग फोस्टस - ऑन इनफेरनल कोमडी

अन्य रचनाएँ

बेसिक रूल्स ऑफ रीसन

बेसिक इन टीचिंग

---

1. Contemporary literary Critics - Elmer Borkland.
P. No. 437

ए वेल्ड लैन्गुवेज - आन अट्रुत
द पोकट बुक ऑफ बेसिक इंग्लीश
लेनिंग बेसिक इंग्लीश
नेशनल आन्ड पीस
फ्रेंच सेल्फ टोट
जर्मन टोट त्रु पिक्चेस
हीब्रु त्रु पिक्चेस
फर्स्ट स्टेप इन रीडिंग इंग्लीश
फ्रेंच त्रु पिक्चर
ए फर्स्ट वर्क बुक ऑफ फ्रेंच
रशियन त्रु पिक्चेस
डिसैन फोर एस्केप
सो मच नीयरर
स्क्रीनृत
इंगेर आन्ड वर्क इन ए सावेज ट्रैब ।

रिचर्ड्स के सतत अध्ययन, गंभीर चिंतन और निरंतर प्रयास के प्रमाण हैं ये ग्रंथ । भाषा-शिक्षण की दृष्टि से ये ग्रंथ अधिक उपयोगी है ।

उपाधियाँ

साहित्य और मनोविज्ञान के क्षेत्र में रिचर्ड्स ने जो महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी, इसके लिए उन्हें अनेक उपाधियाँ भी प्राप्त हुई

जैसे 1962 में "लूयिनस अवार्ड", 1964 में "कंपानियन ऑफ ऑनर", 1970 में इमेरसन तोरियन मेडल", 1972 में ब्रान्डीस युनिवेर्सिटी क्रीयेटीव आक्टिविटी मेडल," 1944 में हारवार्ड विश्वविद्यालय से डी. लिट आदि । अमेरिकन अकादमी ऑफ आरट्स आन्ड लेटर्स" का "ओनररी मेंबर" होने का सौभाग्य भी उन्हें मिला था । रिचर्ड्स की मृत्यु 7 सितंबर 1977 को हुई ।

बीसवीं शताब्दी के तृतीय दशक से ही इंग्लैंड में "न्यू क्रिटिसिज़्म" के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि बनने लगी थी । इस पृष्ठभूमि के निर्माण में ऐ.ए. रिचर्ड्स की मान्यताओं का उल्लेखनीय योग रहा है । नये समीक्षकों में साहित्य-समीक्षा के सिद्धांतों को पूर्ण एवं व्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय, कॉलरिज के बाद रिचर्ड्स को ही है ।[1] उनकी रचनाएँ अब भी अंग्रेज़ी आलोचना क्षेत्र को आलोकित कर रही है । उनकी आलोचना-पद्धति के सूत्र को पकडकर इंग्लैंड में जॉन क्रोव रानसम् (John Crowe Ransom), विलियम एम्प्सन (William Empson) जैसे आलोचक आगे बढे और अमेरिका में "न्यू क्रिटिसिज़्म" नामक आलोचना-संप्रदाय का विकास हुआ ।[2]

निष्कर्ष

कविता के महत्व की प्रतिष्ठा का सवाल, पाश्चात्य समीक्षा

1. Literary Criticism. R.A. Dwivedi and V. Ravi. P. No. 386.

2. History and Principles of Literary Criticism - Dr. Raj Pati P. 333.

में चर्चा का विषय बन रहा है । करीब दो शताब्दियों से लेकर पाश्चात्य काव्य-शास्त्र काफी विकासात्मक और प्रयोगशील बन गया है । पश्चिम में साहित्य के स्वरूप के संबंध में बड़ी गहराई से विचार सबसे पहले यूनानी समीक्षा में हुआ । पर उसका क्षेत्र सीमित था ; वह मुख्यतः त्रासदी तक सीमित रहती थी । अन्य काव्य-रूपों का उल्लेख इसमें कम ही हुआ । रोमी समीक्षा तो यूनान का अनुकरण मात्र था । रोमांटिक युग में समीक्षा, एक विशेष विधा के रूप में अपनी स्वतंत्र सत्ता ग्रहण कर चुकी थी । लेकिन इसका समग्र विकास बीसवीं शताब्दी में ही हुआ । इस शताब्दी में वैज्ञानिक प्रगति के साथ साथ मानविक विषयों में भी काफी विकास दर्शित हुआ । डार्विन का विकासवाद, मार्क्स का अर्थशास्त्र एवं समाज-विकास संबंधी सिद्धांत, फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत इन सबका गहरा प्रभाव साहित्य-सृजन तथा साहित्य-मूल्यांकन पर पड़ा । कला तथा साहित्य के तत्वों के वैज्ञानिक मूल्यांकन के प्रयास भी हुए । रिचर्ड्स द्वारा नई आलोचना का सूत्रपात हुआ । कला और साहित्य के संबंध में उनका दृष्टिकोण बिलकुल नया था । अपने समय में प्रचलित सभी सिद्धांतों को ललकारते हुए, मनोविज्ञान पर अधिष्ठित नये सिद्धांत को लेकर उन्होंने एक नयी परंपरा की प्रतिष्ठा की ।

इसमें दो मत नहीं है कि रिचर्ड्स का जीवन निरंतर प्रगतिशील रहा । अपनी असाधारण विद्वत्ता एवं पांडित्य से उन्होंने अंग्रेजी साहित्य की प्रायः सभी साहित्यिक विधाओं को संपन्न करने का भरसक प्रयास किया । फिर भी उनका अपना क्षेत्र समीक्षा है । उन्नति की हर सीढ़ी को वे बड़ी सावधानी से पार करते रहे । निःसंदेह रिचर्ड्स आधुनिक पाश्चिमी आलोचना का अगुआ हैं ।

अध्याय - तीन

आचार्य शुक्ल के समीक्षा - सिद्धांत

अध्याय - तीन

आचार्य शुक्ल के समीक्षा - सिद्धांत

समीक्षा - शुक्लजी के दृष्टिकोण में

आचार्य रामचन्द्रशुक्ल सिर्फ गुण-दोष विवेचन को समीक्षा नहीं मानते । उनके विचार में - "समीक्षा का अर्थ है अच्छी तरह देखना और परखना । वह जब होगी, तब विचारात्मक होगी ।"[1] कलाकृति भावात्मक हो या कल्पनात्मक, उसकी समीक्षा विचारों द्वारा होती है ।[2] स्थायी - आलोचना में कृतिकार की विचारधारा में डूबकर उसकी विशेषताओं का दिग्दर्शन तथा उसकी अंर्तवृत्तियों की छानबीन की जाती है ।[3] सच्ची आलोचना का संबंध सिर्फ आलोचक से नहीं, पाठक से भी होता है । आलोचक का मुख्य कार्य विचार और विश्लेषण है । उसमें कलाकृति की अनुभूति का साक्षात्कार करके विश्लेषण के उपरांत निर्णय तक पहुँचने की क्षमता होनी चाहिए । शुक्लजी आलोचना में काव्य-सिद्धांतों के गंभीर अध्ययन को महत्वपूर्ण मानते हैं ।[4] अतः वे अच्छी आलोचना के लिए विभिन्न काव्य-संप्रदायों के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन तथा मानसिक शक्तियों की तीव्रता को आवश्यक मानते हैं । हिन्दी के आधुनिक गद्य साहित्य के तृतीय उत्थान काल

---

1. चिन्तामणि - रामचन्द्रशुक्ल - भाग-२ - पृ. 193
2. वही
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 582
4. चिन्तामणि - भाग 2 - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 193

में आलोचना में जो नवीन प्रयास हुआ हैं, वही उनकी दृष्टि में उच्चकोटि की आलोचना है ।[1]

शुक्लजी समीक्षा के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक, प्रभावाभिव्यंजक, निर्णयात्मक, सैद्धांतिक, व्यावहारिक आदि अनेक भेदों को मानते हैं ।[2] शैली की दृष्टि से उनकी समीक्षा मुख्यत: सैद्धांतिक और व्यावहारिक है । उनकी व्यावहारिक समीक्षा में ऐतिहासिक, तुलनात्मक, प्रभावाभिव्यंजक तथा निर्णयात्मक आलोचना का संश्लेष मिलता है । उनके समीक्षा-सिद्धांतों का पूर्ण रूप से प्रतिपादन उनके दो ग्रंथों में मिलता है - 'रसमीमांसा' और 'चिन्तामणि' । इन ग्रंथों से उनकी साहित्य-संबंधी मान्यताओं का पूरा परिचय मिलता है । उन्होंने अपने समीक्षात्मक ग्रंथों में विभिन्न प्रसंगों में बार बार अपने विचारों का उल्लेख करके उनका समर्थन किया है ।

रसवादी आलोचक शुक्ल

शुक्लजी का आलोचनात्मक दृष्टिकोण पूर्णत: रसवादी है । भारतीय परंपरा के अनुसार रस को ही उन्होंने काव्य का आत्म-तत्व घोषित किया है ।[3] पर अपनी रस-विवेचना में उन्होंने कुछ मौलिक

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 504
2. वही - पृ. 582, 583, 383, चिन्तामणि -भाग । - पृ. 94
3. काव्य का आभ्यंतर स्वरूप या आत्मा भाव या रस है - रसमीमांसा - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 104

सिद्धांतों की स्थापना की है । रस-विवेचना में उनकी मौलिक देन यह है कि उन्होंने रसमीमांसा को लक्षण-ग्रंथों के अशक्त तथा रूढ़ रूप से हटाकर नवीन जागृत चेतना तथा सामाजिक चिन्तन भूमि पर प्रतिष्ठित किया ।[1] लोकजीवन की ठोस धरती पर पैर रोपकर उन्होंने रस-सिद्धांत की घोषणा की ।[2]

रसावयव

भरतमुनि ने अपने "नाट्यशास्त्र" में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से स्थायी-भाव पुष्ट होकर जब परिपक्व अवस्था को प्राप्त करता है, उसे रस कहा है ।[3] रस-प्रक्रिया में शुक्लजी भी इन सभी रसावयवों को स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी के संश्लेषण से दध्यादि न्याय के समान रस उत्पन्न होता है ।[4] रस-संबंधी उनकी मौलिक स्थापना यह है कि स्थायी-भाव ही पूर्ण-रस की अवस्था तक पहुँचने में सक्षम है ।[5] पूरी और सच्ची रसानुभूति के लिए वे भाव और विभाव-पक्ष के सामंजस्य को अनिवार्य मानते हैं ।[6]

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास -राजकिशोर कक्कड-पृ. 216
2. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल और हिन्दी आलोचना -डॉ. रामविलास शर्मा-पृ. 5
3. नाट्यशास्त्र - भरत - 1/62
4. रसमीमांसा - पृ. 185
5. वही - पृ. 168
6. वही - पृ. 218

भावपक्ष

शुक्लजी ने हिन्दी के काव्य-शास्त्र को एक नया मनोवैज्ञानिक आधार देकर एक नई परंपरा का समर्थन किया । उनके अनुसार रसानुभूति का मूल आधार भाव है । भाव की मौलिक व्याख्या करके उन्होंने निष्क्रिय रस-निष्पत्ति की जड काट दी ।[1] उन्होंने रस को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति प्रदान की और उसे ऊँची मानसिक भूमि पर ला बिठाया ।[2] रस के प्रवर्तक भावों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उन्होंने किया है । उनकी राय में भाव एक मानसिक, शारीरिक विधान है जिसके अंतर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध, और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा पूर्वापर संबंध संघटित हो ।[3] मन का प्रत्येक वेग भाव नहीं हो सकता । "मन का वही वेग जिसमें चेतना के भीतर आलंबन आदि प्रत्यक्ष रूप से प्रतिष्ठित होता है, वही भाव कहला सकता है ।[4] भाव का संबंध मनुष्य की चित्तवृत्तियों से है । उसकी सारी वृत्तियाँ, व्यापार तथा क्रियाएँ, उसकी भावात्मकता के अनुसार घटित होती है ।

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना - डॉ. रामविलास शर्मा - पृ. 7
2. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी - नंददुलारे वाजपेयी - पृ. 83
3. रसमीमांसा - पृ. 134-135
4. रसमीमांसा - पृ. 135

भाव की तीन दशाएँ

भाव, आलंबन प्रधान होता है ।[1] इसमें आलंबन की भावना "प्रत्यय" के रूप में परिस्फुट होती है । भाव की तीन दशाएँ शुक्लजी ने निरूपित की हैं - भावदशा, स्थायी-दशा और शील-दशा । इन तीनों दशाओं को उन्होंने काव्य के लिए उपयोगी माना है ।

भावदशा

किसी एक आलंबन के प्रति किसी विशेष अवसर पर किसी भाव का होना उसकी भावदशा है ।[2]

स्थायी-दशा

एक ही आलंबन के प्रति किसी भाव का अनेक अवसरों पर होना उसकी स्थायी-दशा है ।[3]

---

1. रसमीमांसा - पृ. 147
2. रसमीमांसा - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 148
3. वहीं - पृ. 148

शील-दशा

भावों की शील-दशा का विवेचन शुक्लजी का अपना है । उनके अनुसार भाव के प्रकृतिस्थ हो जाने की अवस्था ही शीलदशा है ।[1] अनेक अवसरों पर अनेक आलंबनों के प्रति शील-दशा होती है ।[2] शील-दशा का संबंध चरित्र-चित्रण से है ।[3] आलंबन-प्रधान भावों से ही नहीं, भावदशा तक न पहुँचनेवाले मन के वेगों और प्रवृत्तियों के चिराभ्यास से भी भिन्न भिन्न शीलदशाएँ मनुष्य की प्रकृति में प्रतिष्ठित होती है - जैसे आलस्य से आलसीपन, लज्जा से लज्जाशीलता, असूया से ईर्ष्यालु प्रकृति आदि ।[4] रस-योजना में शील - दशा का प्रत्यक्ष-संबंध नहीं दिखाई पडता । किन्तु आलंबन का स्वरूप संघटित करने में उपादान बनकर वह रसोत्पत्ति में पूरा योग देती है ।[5]

भावों का वर्गीकरण

आलंबन की सामान्यता और विशेषता के आधार पर

---

1. रसमीमांसा - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 153
2. वही - पृ. 137 - 146
3. वही - पृ. 153
4. रसमीमांसा - पृ. 148
5. वही - पृ. 151

शुक्लजी ने भाव को दो वर्गों में विभक्त किया है - स्थायी भाव और संचारी भाव ।

स्थायी - भाव

वह भाव जिसका आलंबन सामान्य होता है, वही प्रधान या स्थायी-भाव है ।[1] मन में स्थिर रूप में रहनेवाला प्रसुप्त संस्कार ही स्थायी-भाव है । ये रसदशा की पूर्णावस्था तक वर्तमान रहते हैं । पाश्चात्य भाववेत्ता शैण्ड की तरह शुक्लजी भी स्थायी-भाव को एक भावचक्र मानते हैं जिसके अंतर्गत भिन्न भिन्न भाव और अनुभूतियाँ संघटित हैं ।[2] सिर्फ स्थायी-भाव की अनुभूति ही पूर्ण रस में परिणत होने में समर्थ है ।[3] ये ऐसे भाव हैं, जो व्यंजित होने पर पाठक या श्रोता के हृदय में भी उत्पन्न होते हैं ।[4] शुक्लजी ने केवल आठ स्थायी-भावों का पृथक उल्लेख किया है, शांत रस की सत्ता उन्हें स्वीकार्य नहीं ।[5]

---

1. रसमीमांसा - पृ. 135
2. वही - पृ. 159
3. वही - पृ. 137
4. रसमीमांसा - पृ. 136
5. वही - पृ. 137

संचारी - भाव

आश्रय के चित्त में उत्पन्न होनेवाले अस्थायी मनोविकारों को संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं । ये किसी मूल भाव को पुष्ट, तीव्र एवं व्यापक बनाते हैं ।[1] ये भाव हमेशा स्थायी-भावों द्वारा प्रवर्तित होकर अनुचर के रूप में आते हैं, किन्तु ये पूर्ण रूप से रस की अवस्था को प्राप्त न कर सकते हैं । शुक्लजी के विचार में, "जो भाव ऐसे हैं, जिन्हें किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का सा अनुभव कर सकते हैं, वे प्रधान भाव हैं, शेष भाव और मन के वेग संचारी हैं ।"[2] सभी शारीरिक अवस्थाएँ एवं आवेग नामक वेग विषयहीन संचारी हैं । विरोध और अविरोध की दृष्टि से उन्होंने संचारियों के चार भेद किये हैं - सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन । स्वरूप की दृष्टि से संचारियों के पाँच भेद हैं - स्वतंत्र विषययुक्त भाव, मन के वेग, अन्य अन्तःकरण वृत्तियाँ, मानसिक अवस्थाएँ और शारीरिक अवस्थाएँ ।[3]

अनुभाव

अनुभाव, भावाश्रित होते हैं । उनका काम है भावों की

---

1. रसमीमांसा - पृ. 162
2. वही - पृ. 161
3. वही - पृ. 167-188

सूचना देना ।[1] मूल भाव के विषय से ही संचारी भाव तथा अनुभाव का उद्गम हो सकता है । शुक्लजी अनुभाव के अंतर्गत केवल आश्रय की चेष्टाओं को ग्रहण करते हैं ।[2] क्योंकि आश्रय की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी मनोगत भाव की व्यंजना करना है । भाव के स्वरूप के भीतर अंगरूप में अनुभाव भी आ जाते हैं । इसका संबंध भावदशा से है ।[3] साहित्यिक ग्रंथों में संचारी भावों के जो बाह्य-चिह्न बनाये गये हैं, वे भी शुक्लजी की दृष्टि में उनके अनुभाव ही है ।[4]

विभाव

रस का आधार खडा करनेवाला मुख्य तत्व है विभाव । यह भाव को प्रेरित, उत्तेजित एवं स्थिर करते हैं और उन्हें रसदशा तक पहुँचाते हैं । शुक्लजी काव्य में विभाव को अधिक महत्व देते हैं ।[5] विभाव, भावों का प्रकृत आधार या विषय है । शुक्लजी लिखते हैं - "भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का

---

1. रसमीमांसा - पृ. 139
2. गोस्वामी तुलसीदास - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 81
3. रसमीमांसा - पृ. 131, 138, 150
4. वही - पृ. 187
5. पर काव्य में विभाव ही मुख्य है - चिन्तामणि - भाग -2, - पृ. 87

सबसे पहला और सबसे आवश्यक काम है ।[1] पूर्व आचार्यों से भिन्न शुक्लजी ने विभाव के अंतर्गत आलंबन और उद्दीपन के साथ आश्रय को भी स्थान दिया ।[2] ये तीनों मिलकर स्थायी-भाव को व्यक्त करते हैं । विभाव-पक्ष के अंतर्गत, वे सभी व्यापार, सारी वस्तुएँ तथा क्रियाएँ आती हैं, जो हमारे मन में सौन्दर्य, माधुर्य, दीप्ति, ऐश्वर्य जैसी भावनाओं को जन्म देती हैं ।[3] विभाव में शब्द द्वारा उन वस्तुओं के स्वरूप की प्रतिष्ठा आवश्यक है जो मन में भाव को उठाने और जमाने में समर्थ होती है ।[4] कल्पना का प्रधान क्षेत्र भी विभाव है ।[5] विभाव का व्यापक स्वरूप ग्रहण करके, उसके भीतर परिस्थिति, वातावरण आदि का समावेश शुक्लजी ने किया ।

आलंबन

आलंबन, भाव का विषय है जिससे मनोविकार उत्पन्न होते हैं ।[6] किसी भाव का आलंबन वही वस्तु होती है, जो वासना रूप में मन में विद्यमान भाव को जाग्रत कर देती है ।[7] हमारे हृदय में भाव का

---

1. रसमीमांसा - पृ. 87
2. वही - पृ. 87
3. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 266
4. रसमीमांसा - पृ. 87
5. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 2
6. रसमीमांसा - पृ. 87
7. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 184

संचार करने में योग्य जगत की सारी वस्तुओं, व्यापारों या प्रसंग का वर्णन आलंबन का वर्णन है ।[1] शुक्लजी काव्य में आलंबन की स्वतंत्र सत्ता की महत्ता घोषित करते हैं । आलंबन मात्र के विशद वर्णन को वे श्रोता में रसानुभूति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानते हैं ।[2] किसी भाव के आलंबन के सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण को वे रसानुभूति का अनिवार्य लक्षण मानते हैं ।[3] आलंबन के अनौचित्य से साधारणीकरण नहीं होता ।[4] आलंबन मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है ।[5] इस आधार पर प्रकृति को उन्होंने स्वतंत्र आलंबन के रूप में प्रतिष्ठित किया । आलंबन, सामान्य या विशेष होता है ।[6] सामान्य आलंबन के प्रति सहृदय मात्र का वही भाव होता है, जो उसके प्रति आश्रय का होता है ।[7] विशेष आलंबन के प्रति श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता, जिसकी व्यंजना आश्रय करता है, वह दूसरे भाव का अनुभव करता है ।[8]

---

1. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 101
2. रसमीमांसा - पृ. 144
3. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 231
4. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 184
5. रसमीमांसा - पृ. 87
6. वही - पृ. 165
7. वही
8. वही

आश्रय

आश्रय का अर्थ है - भाव का अनुभव करनेवाला ।[1] इसलिए हृदय-संपन्न मनुष्य ही आश्रय होता है । किसी मनोभाव की व्यंजना करना आश्रय की चेष्टाओं का उद्देश्य है । शुक्लजी काव्य में आश्रय की दो प्रकार की स्थितियाँ मानते हैं । पहली अवस्था में आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलंबनरूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है, जिसमें पाठक या श्रोता का हृदय सहज ही योग देता है ।[2] इस अवस्था में श्रोता या पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्य रहता है । दूसरी स्थिति में श्रोता या दर्शक का हृदय उसी भाव का अनुभव नहीं करता, जिसकी व्यंजना आश्रय अपने आलंबन के प्रति करता है, अपितु आश्रय के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है ।[3]

उद्दीपन

उद्दीपन भाव को उत्कृष्ट स्थिति में पहुँचाता है ।[4] उद्दीपन के अंतर्गत शुक्लजी मुख्यत: आलंबन की चेष्टाओं और परिवेशों को

---

1. रसमीमांसा - पृ. 87
2. चिन्तामणि - भाग । - पृ. 231
3. चिन्तामणि - भाग । - पृ. 231
4. वही - पृ. 88

लेते हैं । संस्कृत के आचार्यों से भिन्न शुक्लजी ने प्रकृति को प्रसंगवश आलंबन एवं उद्दीपन दोनों रूपों में स्वीकार किया है । उद्दीपन को उन्होंने दो कोटियों में विभक्त किया है - आलंबनगत और बाह्य ।[1]

रस-निष्पत्ति

रस की अवस्था में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी सभी अपना मूल स्वरूप परिवर्तित कर देते हैं । रस-प्रक्रिया में स्थायी एवं संचारी अंगांगी भाव से मिल जाते हैं, स्थायी और विभाव कार्य-कारण संबंध से जुड़ जाते हैं तथा स्थायी और अनुभाव जन्य-जनक भाव से संयुक्त रहते हैं ।[2] अतः रस-निष्पत्ति में ये विभिन्न अवयव एक दूसरे के पूरक बनते हैं ।

साधारणीकरण

कवि की अनुभूति और सामान्य व्यक्ति की अनुभूति में अंतर है । सामान्य व्यक्ति की अनुभूति, व्यक्तिगत रागद्वेष से युक्त रहती है । लेकिन कवि अपनी अनुभूति को सहृदय-सुलभ बनाने के लिए उसे लोकसामान्य-भावभूमि पर ले आता है । हृदयानुभूति को प्रेषणीय बनाने के

---

1. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 123
2. रसमीमांसा - पृ. 131, 138

लिए किया गया व्यापार ही साधारणीकरण है । साधारणीकरण के विषय में शुक्लजी का विचार मौलिक एवं स्वतंत्र है । साधारणीकरण में वे आलंबन या आलंबनत्व धर्म को सर्वाधिक महत्व देते हैं । आलंबन भाव का विषय है और आलंबनत्व धर्म भाव के विषय में प्रतिष्ठित गुण है । शुक्लजी की दृष्टि में साधारणीकरण का संबंध सामाजिकों में रस-निष्पत्ति से है । साधारणीकरण के लोकसामान्य भाव को स्वीकार करते हुए उनका कथन है - "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलंबन हो सके, तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती । इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है ।[1] तात्पर्य यह है कि आलंबन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाववाले कुछ धर्मों के कारण सबके भावों का आलंबन हो जाता है । श्रोता या पाठक हृदय-योग देता हुआ उसी भाव का रसात्मक अनुभव करता है । शुक्लजी कवि, सहृदय पात्र और भाव सबका साधारणीकरण मानते हैं ।[2] साधारणीकरण में आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में होता है, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में । विभाव द्वारा कहा गया साधारणीकरण तभी चरितार्थ होता है ।[3]

काव्य-रस लोकमानस से निर्मित है । इस लोकमानस का ही साधारणीकरण होता है । साधारणीकरण समाज की संवेदना का होता है, जो कवि-कर्म में ढलकर रचनात्मक बन जाता है । किसी रचना का पात्र

---

1. चिन्तामणि - भाग । - पृ. 155
2. वही - पृ. 157
3. रसमीमांसा - पृ. 99

व्यक्ति-विशेष होता है, लेकिन उसकी क्रियाएँ, विचार तथा भावनाएँ सामूहिक होती हैं । इसलिए साधारणीकरण पात्र का नहीं, लेखकीय संवेदना का है । जब कवि के भाव का आलंबन सहृदय के भी उसी भाव का आलंबन बन जाता है, तभी काव्य सर्वग्राह्य बन जाता है ।[1]

रस - दशा

रस-दशा का विश्लेषण करते हुए शुक्लजी ने मुख्यतः चार बातों पर ज़ोर दिया है । §1§ जिसप्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस कहलाती है ।[2] ज्ञानदशा में मनुष्य सांसारिक आकर्षणों से मुक्त रहता है । रस दशा में वह मन के राग-द्वेष के बंधन से छूटकर शुद्ध भाव की अनुभूति में लीन हो जाता है । इस दशा में व्यक्ति "मम-ममेतर" भाव से मुक्त होकर सामान्य भावसत्ता में लीन हो जाता है ।[3]

§2§ "लोकहृदय में हृदय के लीन होने की अवस्था का नाम रस-दशा है ।"[4] इस अवस्था को शुक्लजी पुनीत रस-भूमि कहते हैं ।[5] इस दशा में मनुष्य मात्र

---

1. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 157
2. रसमीमांसा - पृ. 5
3. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 90
4. वही
5. वही

के सामान्य आलंबन के सामान्य धर्मों में पाठक, श्रोता आदि का हृदय लीन हो जाता है । यह लीन अवस्था तभी संभव है जब व्यक्ति अपने अहंभाव को विसर्जित करता है ।

§3§ सौन्दर्यानुभूति को शुक्लजी ने रसानुभूति के स्तर पर ही देखा है । कुछ सुन्दर वस्तुएँ हमारे मन को इतना प्रभावित करती हैं कि उनकी अनुपस्थिति में भी हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं । सौन्दर्य, कर्म, रूप, व्यापार आदि को देखकर अन्तरसत्ता में जो "तदाकार परिणति" होती है, उसे शुक्लजी ने सौन्दर्यानुभूति माना है ।[1] एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है - "जिस सौन्दर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य अपनी पृथक सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है, वह अवश्य एक दिव्य अनुभूति है ।"[2]

§4§ "मन का किसी भाव में रमना और हृदय का प्रभावित होना ही रसानुभूति है ।"[3]

ध्यानपूर्वक देखने पर यह मालूम होता है कि हृदय की मुक्तावस्था, व्यक्ति-हृदय का लोकहृदय में लीन होना, सौन्दर्यानुभूति, रसानुभूति सब एक ही है । रस-दशा में जो कुछ होता है, वह यह है

---

1. रसमीमांसा - पृ. 24
2. वही - पृ. 25
3. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 88

कि इसमें हमारी पृथक सत्ता की भावना का परिहार होता हैं और काव्य में प्रस्तुत विषय को हम शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं ।

रस की कोटियाँ

शुक्लजी ने साधारणीकरण की व्याख्या के अंतर्गत आश्रय के तादात्म्य की अनिवार्यता बनायी है । इसके आधार पर उन्होंने रस की तीव्र कोटियों की परिकल्पना की है - उत्तम, मध्यम और निकृष्ट ।[1]

उत्तम कोटि

आलंबन के साधारणीकरण तथा आश्रय के तादात्म्य से जिस भाव की अनुभूति होती है, वह उत्तम कोटि का रस है ।[2] यहाँ कवि, विभाव तथा सहृदय के साथ साधारणीकरण होता है । जिस काव्य-प्रसंग में आलंबन का स्वरूप - निरूपण इतना परिपूर्ण होता है कि वह प्रत्येक सहृदय के चित्त में भी उसी भाव का उद्रेक कर सके, वहाँ रस-चक्र पूरा होता है ।

मध्यम कोटि

असामाजिक कार्यप्रणाली से होनेवाली रस-निष्पत्ति मध्यम-

---

1. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 220
2. वही

कोटि की होती है । इसमें किसी भाव की व्यंजना करनेवाली कोई क्रिया व व्यापार करनेवाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता के किसी भाव का, जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कौतूहल या अनुराग का आलंबन होता है ।[1] इस भावानुभूति में शास्त्रीय मतानुसार साधारणीकरण नहीं होता । श्रोता, पाठक व दर्शक किसी दूसरे ही भाव का अनुभव करता है और आलंबन किसी दूसरे भाव की व्यंजना करता है । श्रोता का तादात्म्य काव्यगत आश्रय के साथ न होकर कवि के साथ होता है और साधारणीकरण काव्यगत आश्रय के आलंबन का न होकर कवि के आलंबन का होता है । काव्यगत पात्रों के चरित्र-चित्रण से संबंधित अनुभूति को भी शुक्लजी रस की मध्यम कोटि के अंतर्गत रखते हैं ।

निकृष्ट कोटि

चमत्कारवादियों के कुतूहल को शुक्लजी रस की निकृष्ट दशा के अंतर्गत मानते हैं ।[2] इस अवस्था में तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है ।

रसात्मक बोध के स्तर

रसात्मक बोध के विविध रूपों की चर्चा करते हुए शुक्लजी

---

1. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 220
2. वही - पृ. 220

ने यह स्थापित किया कि कल्पित रूप विधान के साथ साथ प्रत्यक्ष रूपविधान और स्मृतरूपविधान के द्वारा भी रसानुभूति संभव है ।[1]

कल्पित रूपविधान

कल्पित रूपविधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति को शुक्लजी ने सर्वत्र रसानुभूति माना है । कल्पना काव्य का बोधपक्ष है, मानसिक रूपविधान का नाम है ।[2] यह काव्य की अभिव्यक्ति में सहायक है । काव्य के अंतर्गत भावों के प्रवर्तन के लिए कल्पना आवश्यक है । कल्पना हमारे सामने मार्मिक रूपों को खडा करती हैं, जिनमें हमारे हृदय की भावनाएँ मग्न हो जाती हैं ।[3] कल्पना भावुकता की सहयोगिनी है । भावुक जब कल्पना-संपन्न और भाषा पर अधिकार रखनेवाला होता है, तभी कवि होता है ।[4] कल्पना के बिना अनुभूति की प्रेषणीयता अपूर्ण रहती है ।[5] काव्य की पूर्ण अनुभूति के लिए कल्पना का व्यापार कवि और श्रोता दोनों के लिए आवश्यक है ।[6] जब कवि की कल्पना और संवेदना विराट लोकजीवन के बीच निर्मित होती है,

---

1. रसमीमांसा - पृ. 212, चिन्तामणि - भाग 1- पृ. 243
2. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 241
3. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 113
4. वही - पृ. 104
5. वही
6. रसमीमांसा - पृ. 243

तब काव्य की रसमयता अधिक प्रगाढ़ और वैविध्यपूर्ण होती है । कल्पना दो प्रकार की होती हैं - विधायक और ग्राहक ।[1] कवि, विधायक कल्पना के माध्यम से अपने आलंबन का रूप खडाकर इसके सामीप्य का अनुभव करता है और सहृदय या पाठक ग्राहक कल्पना के द्वारा अपनी सत्ता को कवि सत्ता के पास ले आता है । काव्य-वस्तु का सारा रूपविधान कल्पना की क्रिया से संपन्न होता है ।[2] काव्य में प्रस्तुत और अप्रस्तुत योजना में कल्पना का योग है ।[3] प्रस्तुत रूपविधान के अंतर्गत कल्पना का प्रधान कार्यक्षेत्र विभावन व्यापार है, क्योंकि इसके द्वारा रस का आधार खडा होता है । कल्पना ऐसे स्वरूप खडा करती है जिनके द्वारा रति, हास, शोक, क्रोध आदि भावों का अनुभव करने के कारण कवि जानता है कि श्रोता या पाठक भी उनका वैसा ही अनुभव करेंगे ।[4] आश्रय के अनुभावों के चित्रण में तथा अलंकार-विधान में उपयुक्त उपमा लाने में भी कल्पना योग देती है ।

कल्पित रूप-विधान के अंतर्गत शुक्लजी ने उस कल्पना को लिया है जो स्मृति या प्रत्यभिज्ञान का सा रूप धारण करके प्रवृत्त होती है ।[5] ऐसी कल्पना को उन्होंने "स्मृत्याभास कल्पना" का नाम दिया है । उनके

---

1. चिन्तामणि - भाग । - पृ. 264, रसमीमांसा - पृ. 21
2. रसमीमांसा - पृ. 237
3. चिन्तामणि - भाग । - पृ. 267
4. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 211
5. चिन्तामणि - भाग । - पृ. 257

विचार में स्मृत्याभास कल्पनाएँ सुख-दुःख की अनुभूतियों से परे होती हैं । वस्तुतः वे हमारा मर्म-स्पर्श करती हैं और हम उनमें लीन होते हैं, इसी कारण से वे रसात्मक होते हैं ।[1]

प्रत्यक्ष रूपविधान

भावुकता की प्रतिष्ठा करनेवाला मूल आधार प्रत्यक्ष रूप ही है । साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य-श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसा परिहार होता है, वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओं में होता है । अतः शुक्लजी की दृष्टि में रसानुभूति प्रत्यक्ष अनुभूति से सर्वथा पृथक अनुभूति नहीं, इसी का ही उदात्त स्वरूप है ।[2] प्रत्यक्ष रूपविधान द्वारा जागृत अनुभूति के संबंध में उनका विचार है - "जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलंबनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलंबनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलंबनों के संबंध में लोक के साथ या कम से कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य होता है ।[3] तात्पर्य यह है कि भावों के आलंबन के प्रति हमारा जो भाव है, वही भाव और भी बहुत से मनुष्यों का या लोकसामान्य का भाव बन जाता है ।

---

1. चिन्तामणि - भाग । - पृ. 257
2. वही
3. वही - पृ. 331, रसमीमांसा - पृ. 219-220

स्मृत - रूपविधान

शुक्लजी के विचार में भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई कुछ परोक्ष वस्तुओं का वास्तविक स्मरण कभी कभी रसात्मक होता है ।[1] स्मृति दो प्रकार की होती है - विशुद्ध स्मृति और प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान ।[2] जिन बातों का स्मरण हमारी मनोवृत्ति को शुद्ध-मुक्त भावभूमि में ले जाता है, वह विशुद्ध स्मृति है ।[3] प्रिय का स्मरण, बाल्यकाल या यौवनकाल के अतीत का स्मरण आदि इसके अंतर्गत आता है । उन्हीं वस्तुओं या व्यापारों का स्मरण रसात्मक होगा, जिनकी प्रत्यक्ष अनुभूति रसकोटि में आ सकती है । साधारण स्मरण या किसी काव्य में वर्णित स्मरण की अपेक्षा रति, हास और करुणा से संबद्ध स्मरण ही ज़्यादातर रसात्मक होता है ।[4] प्रत्यक्ष मिश्रित स्मरण ही प्रत्यभिज्ञान है । इसमें रस संचार की गहरी शक्ति होती है ।[5] पुरानी देखी किसी वस्तु या दृश्य को फिर देखकर उसके बारे में जो पुरानी बातें याद आती हैं, वे प्रत्यभिज्ञान हैं । प्रत्यभिज्ञान की रसात्मक दशा में मनुष्य मन में आई हुई वस्तुओं में ही रमा रहता है, और अपने व्यक्तित्व को पीछे डालता है ।[6]

---

1. रसमीमांसा - पृ. 225
2. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 254, 256
3. वही - पृ. 254
4. वही - पृ. 254
5. वही - पृ. 256
6. रसमीमांसा - पृ. 228

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि शुक्लजी ने प्रत्यक्ष और स्मृत रूपविधानों द्वारा जागरित अनुभूतियों को कुछ दशाओं में और कल्पित रूपविधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूतियों को सर्वत्र रसात्मक माना है । रस-सिद्धांत संबंधी उनकी नवीन उद्भावनाएँ उनके आचार्यत्व को प्रमाणित करने में पूर्णतः समर्थ है । रसानुभूति के स्वरूप के संबंध में उनकी मान्यताएँ स्वतंत्र हैं । प्राचीन आचार्यों की तरह वे रसानुभूति को "आनंदमय", "ब्रह्मानंद सहोदर," "लोकोत्तर" या "अतीन्द्रिय अनुभूति" नहीं मानते ।[1] वे इसे इन्द्रिय-सापेक्ष एवं लोकसामान्य अनुभूति मानते हैं । वे इस बात का विरोध नहीं करते कि रस आनंद भी देता है । मगर आनंद से उनका तात्पर्य हृदय का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना है । अतः रसानुभूति के दो लक्षण उन्होंने बताए हैं -

1. अनुभूति काल में अपने व्यक्तित्व के संबंध की भावना का परिहार
2. किसी भाव के आलंबन के सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण ।[2]

काव्य-संबंधी मान्यताएँ

काव्य के संबंध में शुक्लजी का दृष्टिकोण एकदम मौलिक है । उनके विचार में - "जिसप्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है । हृदय की इसी मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है,

---

1. रसमीमांसा - पृ. 22, 224.
2. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 23।

उसे कविता कहते हैं ।[1] कविता में अनुभूति के साथ अभिव्यंजना के महत्व को भी वे स्वीकार करते हैं ।[2] रस को काव्य की आत्मा मानते हुए काव्य-शास्त्र के अन्य संप्रदायों को भी अपने ढंग से उन्होंने स्वीकार किया । भावों को उद्दीप्त करने के लिए अलंकारों के प्रयोग को भी उन्होंने उचित माना ।[3] उनके अनुसार रीति केवल संघटना है, शरीर का अंगविन्यास है ।[4] फिर भी शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए उन्होंने रीति के विधान को उचित माना है ।[5] भावानुमोदित या हृदय से प्रेरित वक्रता को उन्होंने खूब प्रशंसा की और इसे उत्तम काव्य या लक्षण भी माना ।[6] ध्वनि-सिद्धांत में उन्होंने अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का दोष देखा ।[7] चूँकि ध्वनिवादियों के अनुसार रस-ध्वनि ही श्रेष्ठ हैं, इसलिए शुक्लजी ने रसध्वनि को ही सर्वश्रेष्ठ माना । औचित्य रस का प्राण है । शुक्लजी उसे भी स्वीकार करते हैं । औचित्य विहीन काव्य को उन्होंने मध्यम काव्य की संज्ञा दी है ।[8]

---

1. रसमीमांसा - पृ.5
2. वही - पृ.63
3. वही - पृ.302
4. वही - पृ.303
5. इन्दौरवाला भाषण - पृ.92-93
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्रशुक्ल - पृ.320-321
7. रसमीमांसा - पृ.302
8. अभिभाषण - पृ.85

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि शुक्लजी ने रस के भीतर अन्य संप्रदायों को समेटने का प्रयास किया है ।

रसानुभूति और काव्यानुभूति

शुक्लजी का रस-निरूपण काव्य पर आधारित है । उनके अनुसार रसानुभूति का मौलिक पक्ष यह दृश्य-जगत है । काव्य के विषय में उनकी धारणा यह है - "कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष-सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है तथा उसके हृदय का प्रसार और परिष्कार होता है ।"[1] शेष-सृष्टि से उनका तात्पर्य मानव तथा मानवेतर प्राणियों से युक्त अनेक रूप-व्यापारमय जगत से है । आदिम काल से लेकर इस अनेक रूप व्यापारमय जगत् से मानव का संपर्क है । अतः उनके साथ तादात्म्य स्थापित करने की इच्छा उसके चित्त में वासना रूप में स्थित है । जब इस परिचित सृष्टि के अनेक रूप-व्यापार, काव्य में आलंबन रूप में चित्रित होते हैं, तो अनेक भावों का आश्रय उसका हृदय वंशपरंपरागत रागात्मक संबंध जगाने के कारण उनके साथ तादात्म्य महसूस करता है । ऐसी स्थिति में कुछ क्षण तक वह अपनी पृथक सत्ता को भूलकर मात्र अनुभूति बनकर रहता है ।[2] अतः रसानुभूति का संबंध काव्य तथा दृश्य-जगत् से है । कवि इस जागतिक अनुभूति को अभिव्यक्ति देता है । अतः कविता, भावप्रधान और अनुभूति प्रधान होती है ।

---

1. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 208-209
2. रसमीमांसा - पृ. 5

रसानुभूति और जीवनानुभूति

शुक्लजी प्रत्यक्ष जीवनानुभव को ही काव्यानुभव का मूलस्रोत मानते हैं । उनके शब्दों में - "काव्यभूमि, जीवन से, जगत् से परे नहीं, यह वस्तुतः जीवन के भीतर की ही अनुभूति है ।"[1] जीवन और साहित्य में कोई बुनियादी अंतर नहीं । काव्यगत पात्रों के क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि मनुष्य मात्र के क्रोध, शोक और जुगुप्सा ही हैं । शुक्लजी के मत में काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति, जीवन की अनुभूति के समान दुःखमय होती है । करुण रस के नाटक या काव्य का आस्वादन करते समय आस्वादक वास्तव में दुःख का ही अनुभव करता है । पर "हृदय की मुक्तावस्था" में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है ।[2] जीवन के अन्य साधनों की अपेक्षा, काव्यानुभव की विशेषता यह है कि इसमें व्यक्तित्व का लय हो जाता है ।[3] प्रकृत भाव का सामान्य अनुभव जहाँ सुख-दुःखात्मक होता है, वहाँ रस का अनुभव सुख-दुःख दोनों से अधिक उदात्त होता है ।

रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति

शुक्लजी रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति में मौलिक अंतर न मानते ।[4] सौन्दर्य कवि की अनुभूति का अनिवार्य माध्यम है । काव्य में

---

1. रसमीमांसा - पृ. 244
2. वही - पृ. 222
3. वही - पृ. 25
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 389

सौन्दर्य-भावना, भावानुभूति के रूप में होती है । शुक्लजी सौन्दर्य को शिवम् (मंगल) का पर्याय मानते हैं ।[1] काव्य के तर्फ दो पक्ष हैं - सुंदर और असुंदर ।[2] सुन्दर और असुन्दर पक्षों के द्वन्द्व में सौन्दर्य की वास्तविक अभिव्यक्ति होती है । काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों के बीच मंगल के विकास में है ।[3] शुक्लजी सौन्दर्य को मन के भीतर की वस्तु मानते हैं ।[4] उनके अनुसार हमारी अन्तरसत्ता की तदाकार परिणति ही सौन्दर्य की अनुभूति है ।[5]

अतः काव्यानुभूति, जीवनानुभूति, सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति में कोई मौलिक फरक नहीं । इन सबमें हमारे अस्तित्व का विसर्जन होता है और हम मात्र अनुभूति बनकर रहते हैं ।

रसानुभूति की उपाधियाँ

साहित्य में रसानुभूति की कई उपाधियाँ हैं । भाषा, अलंकार, छंद, लय, बिंब, प्रतीक आदि इनमें प्रमुख हैं । ये सब रसानुभव

---

1. जो धर्म में शिव है, वही काव्य में सुंदर है - चिन्तामणि - भाग । - पृ. 5
2. रसमीमांसा - पृ. 26
3. वही - पृ. 13
4. वही -पृ. 29
5. वही - पृ. 25

के पोषक तत्व है, इसलिए उनकी चर्चा की विशेष प्रासंगिकता है ।

भाषा

भाषा, अभिव्यक्ति का साधन है । काव्य-भाषा की चार विशेषताओं का उल्लेख शुक्लजी ने किया है - मूर्ति-विधान, विशेष रूप-व्यापार सूचक शब्द, वर्ण-विन्यास तथा व्यक्तियों के स्थान पर रूप, गुण या कार्यबोधक शब्दों का व्यवहार ।[1] भावों को मूर्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण, वे कविता में विशेष रूप व्यापार सूचक शब्द को अधिक आवश्यक मानते हैं । कविता में मूर्तिविधान के लिए, लाक्षणिक भाषा के प्रयोग को वे उचित मानते हैं ।[2] "वर्ण-विन्यास" से उनका तात्पर्य शब्दों की मधुरता, कोमलता, संगीतात्मकता और लयात्मकता से है ।[3] इससे नादसौन्दर्य उत्पन्न होता है । शुक्लजी काव्य में भाषा की सहजता पर ज़ोर देते हैं । काव्य-भाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार को अनुचित मानते हुए उनका कथन है - "संस्कृत पदावली का अधिक आश्रय लेने से खड़ीबोली के मंजने की संभावना दूर रहेगी ।"[4] भावानुरूप और बिंबविधायकत्व को उन्होंने भाषौचित्य का निकष बनाया है । भाषा की विशिष्टता

---

1. चिन्तामणि - भाग । - पृ. 121-123
2. चिन्तामणि - भाग । - पृ. 120
3. वही - पृ. 123
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 588

रेखांकित करते हुए उन्होंने दो प्रकार की भाषा की ओर संकेत किया है - सांकेतिक (Symbolic) और बिंबविधायक (presentative)[1]
सांकेतिक भाषा में नियत संकेत द्वारा अर्थबोध मात्र हो जाता है,
बिंबविधायक में वस्तुओं का बिंब या चरित्र अन्तःकरण में उपस्थित होता है ।[2]

अर्थ-विवेचन

शब्दार्थ संबंधी विवेचन में भी शुक्लजी ने नवीन उद्भावनाएँ की हैं । अर्थ से उनका अभिप्राय शब्द के विषय से है ।[3] शब्द को अभिव्यक्ति का निकष मानते हुए उन्होंने शब्द की अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य वृत्तियों पर स्वतंत्र ढंग से विचार किये हैं ।[4] काव्य में व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ को वे प्रमुख मानते हैं ।[5] अर्थ के भी चार भेद उन्होंने किये हैं - प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोलब्ध और कल्पित ।[6]

---

1. जायसी ग्रंथावली की भूमिका - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. ।।।
2. वही
3. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 159
4. रसमीमांसा - पृ. 301-317
5. वही - पृ. 34
6. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 159

इनका संबंध क्रमशः प्रत्यक्ष जगत्, दर्शन और विज्ञान, और इतिहास तथा काव्य से है । भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ, काव्य के आधार होते हैं ।

छंद और लय

कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए शुक्लजी काव्य में छंद और लय को आवश्यक मानते हैं । छंद के संबंध में उनकी धारणा है - "छंद वास्तव में बँधी हुई लय के भीतर भिन्न ढाँचों का योग है, जो निर्दिष्ट लंबाई का होता है ।"[1] छंद के बंधन में अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता को वे सहज मानते हैं ।[2] नाद-सौन्दर्य कविता के स्थायित्व का वर्धक है, उसके बल से कविता ग्रंथाश्रय विहीन होने पर भी किसी न किसी अंश में लोगों की जिह्वा पर बनी रहती है ।[3] नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है ।[4] शुक्लजी छंद और लय में घनिष्ठ संबंध मानते हैं । छंद की तरह लय भी एक प्रकार का बंधन है । यह स्वर के चढ़ाव-उतार के छोटे-छोटे साँचे हैं, जो किसी छंद के चरण के भीतर व्यस्त रहते हैं ।[5]

---

1. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 145
2. वही
3. चिन्तामणि - भाग 3 - पृ. 98
4. रसमीमांसा - पृ. 38
5. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 145

कविता में छंद के प्रयोग से उसमें व्यस्त लय के दाँचों की मिति और उनके योग की मिति का ज्ञान श्रोता को हो जाता है । अतः वह भीतर ही भीतर पढ़नेवाले के साथ नाद की गति में योग देता चलता है ।[1] छंद और लय दोनों काव्य के लिए आवश्यक है । छंद के माध्यम से काव्य में माधुर्य, सौन्दर्य और रमणीयता की प्रतिष्ठा होती है । सुंदर लय के साथ पढे जाने पर कविता का पूर्ण सौन्दर्य प्रकट होता है ।[2]

अलंकार

अलंकार, रचना कौशल का अंग है । यह भाषा का विशेष प्रयोग है, उक्ति-वैचित्र्य है । शुक्लजी द्वारा अलंकार हिन्दी समीक्षा से बाहिष्कृत होने से बच गया ।[3] उन्होंने अलंकार को नई दीक्षित दी । उनके विचार में अलंकार, भाव, वस्तु, क्रिया तथा व्यापार को उत्कर्ष पर पहुँचाने का साधन माना है ।[4] अलंकार का काम वस्तु-वर्णन है, सिर्फ वस्तु-निर्देश नहीं ।[5] शुक्लजी सादृश्य को अलंकार-विधान का आधार

---

1. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 145
2. वही - पृ. 147
3. हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी - नन्ददुलारे वाजपेयी - पृ. 83
4. गोस्वामी तुलसीदास - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 147
5. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 5

मानते हैं ।[1] किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त अलंकार उनकी दृष्टि में चमत्कार है ।[2] संस्कृत आचार्यों से निर्धारित स्वभावोक्ति, उदात्त और अत्युक्ति को वे अलंकार नहीं मानते ।[3] काव्य की रमणीयता के लिए वे अर्थालंकारों के प्रयोग को आवश्यक मानते हैं ।[4] अलंकार काव्य का साधन है । कलापक्ष एवं भावपक्ष को उत्कर्ष पर पहुँचाकर वह रस-निष्पत्ति में योग देता है ।

बिंब एवं प्रतीक

काव्य-भाषा की निर्माण-प्रक्रिया के विशिष्ट तत्व हैं - बिंब और प्रतीक । कविता में अर्थ को बनाये रखने का मुख्य दायित्व बिंब पर होता है । शुक्लजी काव्य में अर्थ-ग्रहण के साथ बिंब-ग्रहण को भी अपेक्षित मानते हैं ।[5] कल्पना, बिंब का प्रेरक तत्व है । कल्पना में बिंब या मूर्त भावना उपस्थित करना कविता का काम है ।[6] बिंब हमेशा विशेष या व्यक्ति का होता है, सामान्य या जाति का नहीं ।[7] बिंब-विधान

---

1. जायसी ग्रंथावली - पृ. 135
2. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 251
3. जायसी ग्रंथावली - पृ. 111
4. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 240
5. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 145
6. वही
7. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 227

में शुक्लजी गोचर-प्रत्यक्षीकरण पर अधिक बल देते हैं । केवल गोचर और मूर्त ही बिंब का मूल विषय है ।[1] बिंब-ग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग वर्ण, आकृति तथा उसके आसपास की परिस्थिति का संश्लिष्ट विवरण देता है । शुक्लजी कविता में प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण करने के समर्थक हैं । प्रकृति के विविध रूप काव्य में उपादेय है । प्राकृतिक दृश्य दो रूपों में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं - आलंबन रूप में और उद्दीपन रूप में ।[2] आलंबन का रूप काव्य में अधिक चित्ताकर्षक बनता है ।

किसी विशेष मनोविकार या भावनाओं को उद्बोधित करना प्रतीक का कार्य है ।[3] प्रतीक दो प्रकार के होते है - मनोविकारों या भावों को जगानेवाले प्रतीक (emotional symbols) और भावनाओं या विचारों को जगानेवाले प्रतीक (intellectual symbols)।[4] काव्य की अच्छी स्थिति के लिए प्रतीकों के प्रयोग को शुक्लजी उपयुक्त मानते हैं ।[5]

---

1. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 145
2. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 2
3. वहीं - पृ. 111
4. वहीं - पृ. 111
5. वहीं

काव्य का उद्देश्य तथा प्रयोजन - "लोकमंगल"

कोई भी रचना, सामाजिक चिन्तन से विलग होकर सार्थक नहीं बन सकती । लेखक की निजी विचारधारा सामाजिक परिवेश से प्रेरित एवं प्रभावित रहती है । जीवन के पारिवारिक एवं सामाजिक रूपों की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है । जीवन की सार्थकता परिवेश की सार्थकता में है । सामाजिक जीवन की विषमताओं में समता लाने के लिए निरंतर प्रयत्न करना पडता है । इन सबके मूल में समाज-कल्याण या लोकमंगल की भावना निहित है । शुक्लजी ने सर्वप्रथम साहित्य को जीवन के पारपार्श्व और सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में रखकर परखने का प्रयत्न किया ।[1] सिर्फ मनोरंजन को वे काव्य का उद्देश्य नहीं मानते ।[2] वे काव्य को जीवन से प्रेरित एवं जीवन के लिए मानते हैं । वे काव्य में नीति और सदाचार के महत्व की प्रतिष्ठा करते हैं । उनकी नैतिकता के मूल में लोकमंगल की भावना निहित है । उन्होंने सर्वत्र व्यक्ति के स्थान पर समाज एवं "लोक" को महत्व दिया है । उनकी दृष्टि में साहित्य, जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब है ।[3] लोककल्याण की भावना से संपृक्त साहित्य को उन्होंने उन्नत और समृद्ध माना है । लोकमंगल से तात्पर्य पूरे समाज की सच्चाई के समयोजन के साथ मानवीय क्षमता का उन्नयन करना है । लोकमंगल, लोकजीवन के यथार्थ पर आधारित है । लोकजीवन का

---

1. हिन्दी के आलोचक - शचीरानी गुर्टू - पृ. 47
2. रसमीमांसा - पृ. 21
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. ।

यथार्थ, साहित्य को शक्ति प्रदान करता है तथा उसे जीवन के प्रति अनुरक्त करता है । सच्चा कवि वही है जो जीवन के विभिन्न रूपों को लेकर समाज के अनेक संबंधों का उदात्त स्वरूप प्रस्तुत करने में सक्षम रहता है ।

शुक्लजी का मंगल-सिद्धांत सौन्दर्य-सिद्धांत के रूप में परिव्याप्त है । कलापक्ष में जो सौन्दर्य है, वही धर्मपक्ष में मंगल है ।[1] वे मानव का कर्तव्य अपने मंगल और लोकमंगल के संगम की स्थापना करना मानते हैं । इसी लोकमंगल की प्राप्ति का साधन है काव्य । लोकमंगल को काव्य और रस का आधार मानकर शुक्लजी ने आलंबन के साधारणीकरण पर विशेष ज़ोर दिया है । इसका मतलब यह है कि काव्यास्वादन के समय सहृदय जिस भाव का आस्वाद करता है, वह कवि या किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं, सबका है । यह "सब" ही उनका लोक है । अतः लोकमंगल ही काव्य का परमोच्च लक्ष्य एवं प्रयोजन है ।[2] शुक्लजी ने कविता की जो परिभाषा दी है, इससे व्यक्त होता है कि कविता का उद्देश्य गंभीर है । मानव-जीवन के स्वरूप की रक्षा और उसके हृदय का विकास करना ही कविता का प्रयोजन है । कविता बद्ध हृदय को मुक्त करती है । वह मनुष्य के हृदय को मुक्त करती है । वह मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित दायरे से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है,

---

1. चिन्तामणि - भाग । - पृ. 5
2. रसमीमांसा - पृ. 19, 21, चिन्तामणि - भाग । - पृ. 111

जहाँ जगत् की गतिविधियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूति का संचार होता है ।[1] वह मनोविकारों के क्षेत्र को विस्तृत करते हुए उसका प्रसार करती है ।[2] इस तरह काव्य जीवन को उदात्त बनाता है, उसके द्वारा मंगल का विधान होता है । व्यष्टि की संकुचित सीमा से ऊपर उठकर, समष्टि की व्यापक मनोभूमि पर ले जाने में ही काव्य की सार्थकता निहित है ।

निष्कर्ष

शुक्लजी मूलतः रसवादी हैं । रस की उपेक्षा करके उन्होंने कोई भी आलोचना नहीं लिखी है । रस-संबंधी अवधारणा में, पूर्वाचार्यों की अपेक्षा शुक्लजी में कुछ नवीन उद्भावनाएँ उपलब्ध है । प्राचीन आचार्यों की तरह वे काव्यानुभूति को अतीन्द्रिय या लोकोत्तर अनुभव नहीं मानते । उसको वे इन्द्रिय-सापेक्ष, प्रत्यक्ष जीवन से संबद्ध एवं मानव-जीवन और प्रकृति से संश्लिष्ट मानते हैं । लोकमंगल की भावना, उनकी समीक्षा का आदर्श है । काव्य में भावाभिव्यक्ति के समान, भाषा को भी उन्होंने महत्त्व दिया । शब्द-विन्यास, अलंकार, छंद, बिंब, प्रतीक आदि के स्वरूप और प्रयोग में वे नवीनता लाने के पक्षपाती हैं ।

---

1. चिन्तामणि - भाग । - पृ. 97
2. वही - पृ. 145 - 146

अध्याय - चार

रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांत

अध्याय - चार

रिचर्ड्स के समीक्षा - सिद्धांत

रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांतों का सांगोपांग एवं व्यवस्थित प्रतिपादन मुख्यत: उनके "प्रिंसिपिलस ऑफ लिटररी क्रिटिसिज़्म", "प्राक्टिकल क्रिटिसिज़्म", "द मीनिंग ऑफ मीनिंग" और "द फाऊण्डेशनस् ऑफ ऐस्थटिक्स" में मिलता है । इनके अंतर्गत उनके काव्य-संबंधी एवं समीक्षा-संबंधी मान्यताओं का मनोवैज्ञानिक आधार पर अध्ययन हुआ है । काव्य संबंधी तथा समीक्षा-संबंधी सिद्धांतों का समर्थन इन ग्रंथों में उन्होंने अनेक स्थानों पर किया है ।

काव्य-संबंधी मान्यताएँ

कविता की परिभाषा

रिचर्ड्स मूर्त अनुभूतियों को ही कविता मानते हैं । वे लिखते हैं - "कविता कोई एक अनुभूति नहीं है, बल्कि अल्पाधिक समान अनुभूतियों का एक वर्ग या समूह है, जो मानक (स्टान्डेर्ड) अनुभूति से प्रत्येक विशेषता में एक खास मात्रा में अंतर नहीं रखती है ।"[1] वे कविता

---

1. In fact it is the only workable way of defining a poem namely, as a class of experiences which do not dffer any character more than a certain amount, varying for each character from a standard experience - Principles of Literary Criticism- I.A. Richards. P. No. 178.

की अपेक्षा कवि की अनुभूति को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं । कविता रचते समय कवि को जो निजी अनुभूति है, वही निश्चित मौलिक अनुभूति है ।[1]

काव्य में कल्पना

कवि या कलाकार अपनी सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए कल्पना-शक्ति का सहारा लेता है । काव्य-रचना में कवि की कल्पना-शक्ति को रिचर्ड्स प्रमुख स्थान देते हैं । कल्पना एक सामान्य मानसिक प्रक्रिया है । कुछ आवेगों के सक्रिय हो जाने पर अन्य जो आवेग जाग्रत हो जाते हैं, इन्हें रिचर्ड्स कल्पना मानते हैं ।[2] कभी कभी बिना किसी बाह्य-उत्तेजक कारण के पूर्व अनुभव के समय उत्पन्न हुए आवेगों में से कुछ वर्तमान में उत्पन्न होते हैं । ये आवेग "आवृत्यात्मक कल्पना" (रेपटेटीव) हैं । जो आवेग वर्तमान परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होते हैं, वे रूपात्मक (फोरमेटीव) कल्पना हैं ।[3]

---

1. We may take as this standard experience, the relevant experience of the poet, when contemplating the completed composition - Principles of Lit.Criticism I.A.Richards P.No. 178.

2. Given some impulses active others are thereby aroused in the absence of what would otherwise be their necessary stimuli. Such impulses I call imaginative Ibid. P. No. 149.

3. Ibid P.No. 149

रिचर्ड्स ने छः विभिन्न अर्थों में कल्पना का प्रयोग माना है ।[1] स्पष्ट चाक्षुष बिंबों की उत्पादिका के रूप में कल्पना का प्रयोग होता है । सालंकार भाषा के प्रयोग से कल्पना का संबंध होता है । दूसरे मनुष्यों की मनःस्थिति और उनके मनोवेगों को सहानुभूतिपूर्वक पुनः प्रस्तुत करना कल्पना का कार्य है । साधारणतया असंबद्ध तत्वों को एक साथ मिलाने में कल्पना सहायक बनती है । कल्पना वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा वैज्ञानिक प्रायः असदृश वस्तुओं में संबंध दिखाता है ।

कल्पना का सबसे महत्वपूर्ण गुण यह है कि परस्पर विरोधी या अमेल भावों में वह संतुलन लाती है ।[2]

रिचर्ड्स का मंतव्य है कि कल्पना द्वारा कवि या कलाकार उन आवेगों को व्यवस्थित करता है, जो एक दिशा में समानान्तर रूप से

---

1. Principles of Literary Criticism. I.A. Richards P.No.189 -191.
2. But the poet through his superior power of ordering experience is freed from this necessity. Impuluses which commonly interfere with one another and are conflicting, independent and mutually distractive, in him combine into a stable poise - Ibid P.No.191

प्रवाहित होते हैं । जो आवेग भिन्न तथा परस्पर विरोधी होते हैं, उन्हें भी कल्पना व्यवस्थित करती हैं ।[1] वे मानते हैं कि साधारण व्यक्ति की अपेक्षा, कलाकार में अतीत अनुभवों की सुलभता, उद्दीपन के व्यापक क्षेत्र को स्वीकार करने की योग्यता एवं अनुक्रियाओं को पूर्ण बनाने की क्षमता अधिक रहती है । इसी कारण उसे आवेगों को दबाने की आवश्यकता नहीं पडती है । आवेगों का चुनाव, वे अचेतन रूप में करते हैं ।[2] ऐ दूसरे को बाधित करनेवाले संघर्षपूर्ण एवं स्वतंत्र आवेग कवि में स्थिर विराम की अवस्था प्राप्त कर लेते हैं, जबकि साधारण व्यक्ति में ऐसी अवस्था प्राय: विरल है । साधारण व्यक्ति कला द्वारा मानसिक आवेगों को व्यवस्थित कर देता है । विरोधी आवेगों का यह संतुलन कल्पना की संश्लेषणात्मक शक्ति द्वारा संपन्न होता है ।[3]

काव्यानुभूति या सौन्दर्यानुभूति

सौन्दर्य, कला तथा जीवन का निकट एवं अनिवार्य

---

1. Principles of Lit. Criticism - I.A. Richards P.No.191.

2. The poet makes unconsciously a selection which out wits the force of habit - Ibid- P.No. 192.

3. It is insuch resolution, of a welter of disconnected impulses into a single ordered response that in all the arts imagination is most shown - Ibid P.No.192-193.

संबंध है । काव्य या कला के प्रभाव से उद्भूत सहृदय की प्रतिक्रिया ही सौन्दर्यानुभूति है । रिचर्ड्स सौन्दर्य को भावक के भीतर निहित मानते हैं । यह अलग अलग वस्तुओं में अलग अलग मात्रा में पाई जाती है । सुन्दर वस्तु सौन्दर्य भोगी पर अबाध गति से प्रभाव डालती है । रिचर्ड्स के अनुसार आवेगों को उद्बुद्ध करने की क्षमता सौन्दर्य है ।[1] सौन्दर्य, वास्तव में मानसिक आवेगों के संतुलन और सामंजस्य का ही दूसरा नाम है ।[2] वह अनुभूतियों का व्यवस्थित और विकसित रूप है । सौन्दर्य के प्रभाव से उत्पन्न आवेगों का संतुलन जितना ही क्षणिक हो, सौन्दर्यानुभूति का कारण बन जाता है ।[3]

---

1. Anything which excites our emotions is beautiful - The Foundations of Aesthetics - I.A. Richards P. No. 75.

2. Beauty is that which is conducive to symaesthetic equilibrium - Ibid.

3. Not all impulses --- are naturally harmonious, for conflict is possible and common. A complete systematisatio must take the form of such an adjustment as will preserve free play to every impulse, with entire avoidance of frustration. If any equilibrium of this kind, however momentary, we are experiencing beauty- Ibid P.No. 75.

सौन्दर्य से प्राप्त आवेगों के संतुलन एवं सामरस्य की अवस्था को वे "साईनेस्थसिस" की संज्ञा देते हैं ।[1] बाद में रिचर्ड्स ने इसके स्थान पर "सिंथसिस" और "इनक्लूषन" शब्द का प्रयोग करते हैं । रिचर्ड्स के कला-मूल्यांकन और सौन्दर्यशास्त्र का आधार यही "साईनेस्थसिस" सिद्धांत है । उनके अनुसार इस अवस्था में मानवीय क्रियाओं में सर्वाधिक संगति रहती है और आवेगों में विरोध और संघर्ष कम हो जाता है ।[2] मन की संतुलित अवस्था में अहं दो भागों में विभक्त न होकर निसंग और अनासक्त रहता है ।[3] इस निस्संगता की अवस्था में पाठक की अधिकांश रुचियाँ सम्मिलित होती हैं और उसका संपूर्ण व्यक्तित्व सक्रिय हो जाता है । इस तरह "साइनेस्थसिस" ताज़गी देता है, थकान नहीं ।[4]

---

1. The Foundations of Aesthetics I.A. Richards- P. No. 75.

2. Harmony is produced by the work of art in that it stimulates usually opposed aspects of beings, keen thought, yet strong feeling (as at a tragedy) yet calm. Equilibrium among these is maintained in that there is no desire, nor action, only a poised awareness, a general intensification of consciousness exercising all a man's faculties richly and together - Ibid. P- 75.

3. Ibid - p- No- 78

4. Synaesthesis refreshes and never exhausts - Ibid P- No- 77

काव्यानुभूति और जीवनानुभूति

रिचर्ड्स की स्थापना है कि काव्यानुभूति जीवन की अन्य सामान्य अनुभूतियों से विलक्षण नहीं है। उनके पहले कॉंट, क्लाइव बेल, ब्रैडले जैसे कलावादियों ने काव्यानुभूति को तटस्थ (disinterested), सार्वभौम (Universal) और अबौद्धिक (unintellectual) बताया।[1] पर उनका विरोध करते हुए रिचर्ड्स ने कहा कि मनोविज्ञान में ऐसे असाधारण कलात्मक अनुभव के लिए कोई स्थान नहीं।[2] मनोविज्ञान लौकिक और अलौकिक अनुभूति में अंतर नहीं मानते। अलौकिक शब्द, वैज्ञानिक विचारणा अग्राह्य है। सौन्दर्यानुभूति और कपडा पहनने, चित्र देखने, गैलरी जाने या संगीत सुनने की अनुभूति में कोई मौलिक अंतर नहीं है।[3] साधारण अनुभूति और काव्यानुभूति में अंतर बताते हुए वे आगे कहते हैं कि काव्यानुभूति की

---

1. Now the special form as it is usually described in terms of disinterestedness, detachment, distance impersonality, subjective universality and so forth. Principles of literary criticism. I.A. Richards. P. No. 9.

2. But Pscychology has no place for such an entity Ibid. P. No. 9.

3. When we look at a picuture, or read a poem, or listen to music, we are not doing something quite unlike what we were doing on our way to the gallery or when we dressed in the morning. Ibid P. No.10.

योजना, बहुत गूढ़, जटिल, एकीकृत एवं व्यवस्थित होती है ।[1] इसमें भावसंचार की क्षमता अधिक रहती है । यह अनुभूति एक हृदय से दूसरे हृदय में पहुँचायी जा सकती है । बहुत से हृदय उसका अनुभव बहुत थोड़े ही फेरफार के साथ करते हैं । उसकी अन्य भारी विशेषता उसकी संप्रेषणीयता (Communicability) या सर्वग्राह्यता है । इसके अनुभव काल में हम व्यक्तिगत भावनाओं से अलग रहते हैं । रिचर्ड्स के शब्दों में "जीवन के कुछ क्षण ऐसे होते हैं, जहाँ आवेगों का ऐसा सामंजस्य घटित होता है कि हमारी संकीर्ण स्वार्थ-परता मिट जाती है और अस्तित्व को वास्तविकता

---

1. I shall be at pains to show that they are closely similar to many other experiences, that they differ chiefly in the connections between their constituents and that they are only a further development, a finer organisation of ordinary experiences, and not in the least a new and different kind of thing ----- The fashion in which the experience is caused in us is different, and as a rule the experience is more complex, and if we are successful, more unified. Principles of Literary Criticism. I.A. Richards P.No.10.

के दर्शन होते हैं ।"[1] इस तरह रिचर्ड्स वास्तविक जीवन की अनुभूतियों में भी काव्यानुभूति की विशेषता देखते हैं । कलानुभव की अलौकिकता और सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभव की अतीन्द्रियता को समाप्त करते हुए उन्होंने उसे जीवनानुभव की ठोस ज़मीन दी ।[2]

काव्यानुभूति का विश्लेषण

रिचर्ड्स ने काव्यानुभूति के निर्माण में सहायक मानसिक घटनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया है । किसी कविता को पढ़ने पर

---

1. But these impulses active in the artist become mutually modified and thereby ordered to an extent which only occurs in the ordinary man at rare moments, under the shock of, forexample, a great bereavement or an undreamt, of happiness, at instants when the 'film of familiarity and selfish solicitude' which commonly hides mine - tenths of life from him, seems to be lifted and he feels strangely alive and aware of the actuality of existence. Principles of literary criticism. I.A. Richards. P No. 191.

2. पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन - निर्मला जैन - पृ. 140

प्रतिक्रियाओं की जो धारा प्रवाहित होती है, उसे उन्होंने छः भागों में विभक्त किया है ।

1. मुद्रित अक्षरों की चाक्षुष संवेदनाएँ
2. चाक्षुष संवेदनाओं से संबंधित बिंब
3. अपेक्षाकृत स्वतंत्र बिंब
4. अभ्युद्देशन या संबंधित विभिन्न विषयों का चिन्तन
5. भाव
6. संकल्पनात्मक रागात्मक अभिवृत्तियाँ ।

इनमें प्रथम चार को अर्थबोध की प्रक्रिया से संबंधित मानते हैं । ये पाठकों को भावानुभूति प्रदान कर देते हैं । अनुभूतियों का लक्ष्य पाठक के भावात्मक दृष्टिकोणों को प्रभावित एवं उद्वेलित करना है ।

चाक्षुष संवेदनाएँ (Visual sensations)

उपर्युक्त मानसिक घटनाओं में चाक्षुष संवेदनाओं के महत्व का

---

1. The visual sensations of the printed words.
2. Images very closely assoicated with these sensations.
3. Images relatively free
4. Reference to or thinkings of various things
5. emotions
6. Affective volitional attituds -
   Principles of Lit Criticism. P.A. Richards.
   P. No. 90-91.

प्रतिपादन करते हुए रिचर्ड्स लिखते हैं कि शेष बातें इन्हीं पर आश्रित रहती हैं । कविता के पढ़ने पर आवेगों की जो धारा प्रवाहित होती है, वह अक्षरों की चाक्षुष - संवेदना से शुरू होती है । अक्षरों के आकार-प्रकार, रूपरंग आदि की विन्यास का संपूर्ण क्रिया पर कम प्रभाव ही रहता है । काव्यानुभूति में शब्द संबद्ध बिंबों (associated images) और अपने अर्थ के द्वारा प्रभावशाली होता है ।[1]

संबद्ध बिंब (Tied images)

शब्दों की चाक्षुष संवेदनाएँ स्वतंत्र रूप से उत्पन्न नहीं होती । उनके साथ निश्चित रूप से कुछ संगी होते हैं, जिन्हें उनसे अलग करना आसान नहीं । इन संलग्नों में श्रुतिबिंब (Auditory Image) तथा शब्दों के उच्चारण की अवस्था में ओठ, मुँह तथा कंठ से प्राप्त होनेवाले अनुभव मुख्य हैं ।[1] शब्दों के श्रुतिबिंब मानसिक घटनाओं में से सर्वाधिक स्पष्ट है । श्रुतिबिंबों की अपेक्षा, उच्चारणात्मक बिंब (Articulatory images)[2] विरले ही देखे जाते हैं । मूक भाषा के गुण इन पर निर्भर हैं ।

---

1. The Chief of these are the auditory image . The sound of the words in the mind's ear and the image of articulation. The feel in the lips; mouth and throat, of what the words would be like to speak. PPs. of lit. Criticism. I.A. Richards. P. No. 91.

2. Ibid. P. 91.

संबद्ध बिंब के इन दोनों प्रकारों को रिचर्ड्स शाब्दिक बिंब (Verbal Images) कहते हैं।[1] कविता के रूपगत संरचना (Formal structure) के लिए ये तत्व (elements) प्रदान करते हैं।[2] बिंबों की संवेदी विशेषताएँ उनकी सजीवता (vivacity), स्पष्टता (clearness) ब्योरों की पूर्णता (fullness of details) आदि हैं।[3]

स्वतंत्र बिंब (Free Imagery)

समीक्षा में स्वतंत्र बिंबों का अलग स्थान है। रिचर्ड्स के अनुसार विभिन्न व्यक्तियों में बिंबों के प्रकार की दृष्टि से ही नहीं, विशिष्ट

---

1. Principles of Lit. Criticism. P. No. 93.

2. These two forms of tied imagery might also be called verbal images and supply the elements of what is called the 'formal structure' of poetry. Ibid. P-93.

3. It is natural for those whose imagery is vivid, to suppose that vivacity and clearness go together with power over thought and feeling. Ibid. P.No. 94.

प्रकार के बिंबों के उत्पादन की दृष्टि से भी भिन्नता रहती है ।[1] कविता के प्रति उनकी जो प्रतिक्रियाएँ हैं, इनमें स्वतंत्र या मुक्त बिंब वह बिन्दु है, जहाँ दो पाठक प्राय: भिन्नता रखते हैं और यह भिन्नता निरर्थक (immaterial) भी होती है ।[2]

आवेग और अभ्युद्देशन (Impulses and References)

आवेग मन की एक प्रकार की प्रक्रिया है जो किसी उद्दीपन (stimulus) से शुरू होकर किसी कार्य में परिणत होती है ।[3] आवेगों के क्रमबंधन (systematisation) तथा संघटन (organisation) में रिचर्ड्स मूल्य का स्वरूप देखते हैं । ये आवेग अनुभूति के बाने (weft) हैं

---

1. It cannot be too clearly recognised that individuals differ not only in the type of imagery which they employ, but still more in the particular images which they produce. PPs- of lit. Criticism. I.A. Richards. P. No. 93.

2. Ibid. P. No. 93.

3. The process in the course of which a mental eventmay occur, a process apparently beginning in a stimulus and ending in an act, is what we have called an impulse Ibid- P. No. 66.

और मन का पूर्ववर्ती व्यवस्थित ढाँचा ताना है ।[1] आवेगों का संचार तथा विकास मन की अवस्था पर निर्भर रहता है । मन की अवस्था का आधार पहले से सक्रिय होनेवाले आवेग है ।[2] आवेग, उनकी दिशा, शक्ति तथा उनका परस्पर प्रभावित करना किसी भी अनुभूति की अवश्य और मौलिक वस्तुएँ हैं ।[3] शेष सारी बौद्धिक या भावात्मक वस्तुएँ आवेगों की क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप जागृत होती है । आवेगों के संघर्ष की विरति से भावक को परम शांति और विश्रांति (poise) की अनुभूति होती है । इन सबका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा ।

---

1. These impulses are the weft of experience, the warp being the pre-existing systematic structure of the mind, that organised system of possible impulses - PPs: of Lit. Criticism. I.A.Richards. P. No. 95.

2. Where these impulses run, and how they develop, depends entirely upon the conditions of the mind, and this depends upn the impulses which have previously been active in it - Ibid. P.No. 95.

3. It will be seen then that impulses their direction, their strength, how they modify one another - are the essential and fundamental things in any experience. Ibid. P. No. 95.

अभ्युद्देशन (References)

अभ्युद्देशन एकमात्र मानसिक व्यापार है । इसे विचार भी कहा जाता है । ये वाचक शब्दों के साथ उसीप्रकार संबद्ध होते हैं जैसे संबद्ध बिंब ।[1] शब्द को देखते ही वह विचार सामने आता है, जिसका वह शब्द वाचक होता है । इस विचार को हम शाब्दिक अर्थ कहते हैं । विचार में वस्तु का संकेत होता है । रिचर्ड्स के अनुसार गंभीर विचार, उत्कृष्ट ध्वनि-योजना या सजीव बिंब-सृष्टि में से एक के अभाव में भी कविता महान हो सकती है ।

भाव तथा अभिवृत्ति (emotions and attitudes)

रिचर्ड्स भाव को मूल रूप से अभिवृत्तियों के संकेत या चिह्न मानते हैं ।[2] सामान्य संवेदनीयता से इसका संबंध होता है । ये भाव, चेतना के अंग होते हैं । उद्दीपक परिस्थितियाँ संपूर्ण शरीर में व्यापक रूप में व्यवस्थित प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती है, जिन्हें हम चेतना की स्पष्ट

---

1. To turn now to references, the only mental happenings which are as closely connected with visual words as their tied images are those mysterious events which are usually called thoughts. PPs. of Lit. Criticism. P. 96.

2. Emotions are primarily signs of atitudes - Ibid- P. 101.

विशेषताओं के रूप में अनुभूत करते हैं । भय, शोक, हर्ष, क्रोध आदि भावात्मक स्थितियाँ हैं । जब किसी व्यक्ति की स्थायी-प्रवृत्तियाँ आकस्मिक रूप से विफल हो जाती हैं, तब भाव पैदा होते हैं ।[1] ये भाव उद्दीपन के क्षण में किसी व्यक्ति के जीवन की आन्तरिक परिस्थितियों पर ज़्यादा निर्भर करते हैं । रिचर्ड्स ने भावात्मक अनुभव की दो विशेषताएँ बतायी हैं - पहली शरीर के अंगों में सहानुभूतिक प्रणालियों द्वारा व्याप्त प्रतिक्रियाएँ, दूसरी कुछ निश्चित प्रकार की प्रतिक्रिया के लिए प्रवृत्ति ।[2]

अभिवृत्तियाँ

रिचर्ड्स के विचार में किसी भी अनुभूति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग मन में जगाई गयी अभिवृत्तियाँ हैं ।[3] अभिवृत्तियाँ, स्थायी

---

1. They arise for the most part when permanent or periodical tendencies of the individual are suddenly either facilitated or frustrated - PPs. of Lit. Criticism- P- No- 75.

2. The main features characterize every emotional experience. One of these is a diffused reaction in the organs of the body brought about through the sympathetic system. The other is a tendency to action of some definte kind or group of kinds - Ibid - P- 78.

3. Ibid - P- No- 86, 100 - 102.

मनोवृत्ति का सूचक हैं । इसका आधार बौद्धिक प्रवृत्तियाँ हैं । कविता में अधिकांश विचारों की अभिव्यक्ति भावों के दृष्टिकोणों के प्रभाव के लिए होती है ।[1] अनुभूति के बाद में मन में किसी विशिष्ट प्रकार के व्यवहार के लिए तत्परता होती है । यही तत्परता ही अभिवृत्ति है । काव्यानुभूति का मूल्य श्रेष्ठ अभिवृत्तियों के निर्माण तथा आवेगों के संतुलन और समझौते पर आश्रित रहता है ।[2] ये अभिवृत्तियाँ असंख्य होती हैं ।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान के ही परिप्रेक्ष्य में काव्य की सार्थकता और महत्व की नई व्याख्या प्रस्तुत की है ।

समीक्षा-संबंधी मान्यताएँ

रिचर्ड्स के विचार में समीक्षा अनुभूतियों के पृथक्करण तथा मूल्यांकन का प्रयास है ।[3] अनुभूतियों के पृथक्करण से तात्पर्य किसी कलाकृति से मन में उत्पन्न विभिन्न अनुभूतियों का अंतर समझना है ।

---

1. Practical Criticism - I.A. Richards- P-No-184.
2. Principles of lit.Criticism - P.No- 38-43, 82-86.
3. Criticism , as I understand it, is the endeavour to discriminate between experiences and to evaluate them - Ibid - P.No. 2.

अनुभूतियों के मूल्यांकन का अर्थ उनकी अच्छाई-बुराई को पहचानना तथा कारणों की खोज करना है । दूसरे शब्दों में विभिन्न कलाकृतियों से प्राप्त अनुभवों का तारतम्य-निर्धारण ही समीक्षा-व्यापार का मुख्य-धर्म है । रिचर्ड्स की धारणा है कि आधुनिक युग में वही आलोचना मान्यता प्राप्त कर सकती है जो वैज्ञानिक हो । अतः उन्होंने मनोविज्ञान को अपनी आलोचना-पद्धति का आधार बनाया है । कलात्मक अनुभवों की प्रकृति का विश्लेषण भी वे मानसिक व्यापारों के आधार पर करते हैं ।

समीक्षक का दायित्व और उसकी योग्यताएँ

रिचर्ड्स के अनुसार समीक्षक का दायित्व, सामाजिक को श्रेष्ठ मूल्यों के अनुभव पाने योग्य बनाना है ।[1] एक अच्छे समीक्षक की आवश्यक तीन योग्यताएँ उन्होंने बतायी हैं । वे हैं - जिस कलाकृति का समीक्षक मूल्यांकन करना चाहता है उसके लिए अपेक्षित मनःस्थिति को अनुभव करना, विभिन्न अनुभूतियों की महत्वपूर्ण विशेषताओं को पहचानकर उनमें अंतर देखने की क्षमता रखना, और मूल्यों का ठोस, प्रौढ़ एवं गंभीर निर्णायक होना ।[2] रिचर्ड्स इस बात पर ज़ोर देते हैं कि एक सफल समीक्षक के लिए

---

1. Principles of Lit. criticism - P.No. 35-60.

2. The qualification of a good critic are three. He must be an adept at experiencing, without eccentricities, the state of mind relevant to the work of art he is judging. Secondly, he must be able to distinguish experiences from one another as regards their less superficial features. Thirdly, he must be a sound judge of values- Ibid - P- No. 87.

काव्यानुभूति के मनोवैज्ञानिक स्वरूप की जानकारी अत्यंत अपेक्षित है ।[1] काव्यानुभूति के मनोवैज्ञानिक स्वरूप पर सब कहीं वे बल देते दिखाई देते हैं ।

समीक्षा के आधार-स्तंभ

रिचर्ड्स समीक्षा के दो रूप मानते हैं - आलोचनात्मक पक्ष (क्रिटिकल पार्ट) और प्राविधिक या शैल्पिक पक्ष (टेकनीकल पार्ट) ।[2] आलोचनात्मक पक्ष में अनुभूतियों के मूल्यों का विवरण होता है, जिसका संबंध मनोविज्ञान से है । प्राविधिक पक्ष में अनुभूति की अभिव्यक्ति में सहायक सभी साधनों से संबद्ध उक्तियों का निरूपण होता है । लय, छंद, तुक, अलंकार आदि का विचार प्राविधिक पक्ष के अंतर्गत होता है ।

आलोचनात्मक पक्ष

रिचर्ड्स के अनुसार मूल्य और प्रेषणीयता की भित्ति पर ही आलोचना के भवन का निर्माण होता है ।[3] अत: उनकी आलोचना-

---

1. Principles of Literary Criticism - I.A.Richards - P.No. 46.
2. The part which describes the value of the experience, we shall call the 'critical part'. That which describes the object we shall call the 'technical part8 - Ibid - P.No. 15.
3. The two pillars upon which a theory of criticism must rest are an account of values and an account of communication - Ibid- P. No- 17

पद्धति के दो आधार-स्तंभ हैं - मूल्य का लेखा और संप्रेषण का विवेचन ।

कलात्मक मूल्य

रिचर्ड्स कला का मूल्य से अभेद्य संबंध मानते हैं । उनकी दृष्टि में कलाएँ हमारे संचित मूल्यों का सुरक्षित भण्डार हैं ।[1] कलाएँ प्रतिभावान व्यक्तियों के जीवन के क्षणों से उद्भूत होकर उन्हें शाश्वत बनाती हैं ।[2] अनुभूतियों के आपेक्षिक मूल्य-निर्णय के लिए वे उत्तम आधार-सामग्री (डाटा) प्रस्तुत करती हैं ।[3] रिचर्ड्स के मत में आज के परिवर्तित परिवेश में प्राचीन मूल्यों का विघटन हो रहा है । इस अवस्था में सभ्य समाज के सामने मानसिक अवस्था में संतुलन बनाए रखने का एकमात्र साधन कला या साहित्य है । इसलिए कलाकार को साहित्यिक मूल्य के प्रति सचेत होना आवश्यक है ।

---

1. Arts are the store-houses of our recorded values- PPs. of Literary Criticism- P.No. 32.

2. Ibid - P- 22 -23.

3. The arts, if rightly approached, supply the best data available for deciding what experiences are more valuable than other - Ibid - P- No. 23.

मूल्य का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत

रिचर्ड्स की समीक्षा की आत्मा मनोविज्ञान है । अतः उनके मूल्य-सिद्धांत को समझने के लिए उनके द्वारा निरूपित मानसिक प्रक्रिया का परिचय पाना आवश्यक है । साधारणतः किसी भी वस्तु का मूल्यांकन, किसी पूर्वनिश्चित धारणा के आधार पर होता है । मगर रिचर्ड्स के अनुसार किसी वस्तु के अच्छे या बुरे होने का आधार मनोविज्ञान ही है । किसी भी वस्तु की मूल्यांकन संबंधी धारणाओं का संबंध मानसिक आवेगों से है । अतः मूल्य का निरूपण मनोविज्ञान का विषय है । रिचर्ड्स मन को स्नायुतंत्र या उसकी क्रियाओं का एक अंग मात्र स्वीकार करते हैं ।[1] मन आवेगों का तंत्र है ।[2] मानव-मन में अनेक परस्पर विरोधी आवेग मौजूद हैं । इनमें दो प्रमुख हैं - इच्छा, एषणा या आकांक्षा (ऐपटेन्सी) और वितृष्णा या विमुखता (अवरशन) ।[3] इच्छा, प्रवृत्तिमूलक (आसक्तिमूलक) आवेग है । ये सजातीय आवेग हैं जिनमें कोई विरोध नहीं होता । भूख, वासना या तृष्णाएँ इनमें आती हैं ।

---

1. That the mind is the nervous - system or rather a part of its activity - PPs. P- 63.

2. Ibid - P- No- 64

3. We may start from the fact that impulses may be divided into appetencies and aversions - Ibid - P.No. 35.

वितृष्णा या विमुखता निवृत्तिमूलक (विरक्तिमूलक) आवेग हैं । ये विजातीय हैं, इनमें परस्पर विरोध होता है । घृणा, वितृष्णा आदि इनमें आती हैं । इन आवेगों के बीच परस्पर टकराहट एवं विरोध होता है । मन के विरोधी आवेगों के संबंध में रिचर्ड्स का कहना है कि एक ओर हम अपने मन में उत्पन्न कुछ माँगों को पाने के लिए तैयार होते हैं तो दूसरी ओर कुछ वस्तुओं के प्रति हमारे मन में नफ़रत आती है और हम उनसे दूर भागना चाहते हैं । मन की सबसे उत्तम स्थिति वह है जिसमें आवेगों का संघर्ष और विघटन कम होता है और मानसिक क्रियाओं की सर्वोत्तम संगति रहती है ।[1] मन में उत्पन्न तनाव एवं संघर्ष के कारण आवेगों में उतार-चढ़ाव आता है । "काव्य और कलाएँ आवेगों को व्यवस्थित कर उनमें संगति और संतुलन (harmony and equilibrium) स्थापित करती है ।"[2] वे हमारी अनुभूतियों और संवेदनाओं को व्यापक बनाती हैं और मानव - मानव के बीच संवेदनात्मक एकत्व स्थापित करती है । काव्यानुशीलन द्वारा पाठक भी अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी मनःस्थिति का विकास कर लेता है ।

"आवेगों का संतुलन और सामंजस्य अपवर्जन (exclusion) और अंतर्वेशन (inclusion) तथा समाहार (synthesis) और

---

1. PPs. of Lit. Criticism - P-No. 45, 190-198.
2. Ibid - P- 190-198

बहिष्कार (elimination) से होता है ।"[1] रिचर्ड्स की राय में आवेगों की संतुष्टि, अपवर्जन में विजातीय आवेगों के अपवर्जन से और अंतर्वेशन में विजातीय आवेगों के समाहार या संश्लेषण से होती है । अपवर्जन में अनुक्रियाएँ सीमित रहती हैं और अंतर्वेशन में वे व्यापक बनती हैं ।

मूल्य की मनोवैज्ञानिक परिभाषा

आवेगों की एषणाओं तथा विमुखताओं के आधार पर रिचर्ड्स ने मूल्य की परिभाषा इस प्रकार दी है - "वही वस्तु मूल्यवान है जो किसी समान या अधिक महत्वपूर्ण एषणा को क्षति पहुँचाये बिना अन्य किसी एषणा को संतुष्ट करने में सक्षम है ।"[2] अर्थात् मूल्य का संबंध, इच्छाओं या एषणाओं की संतुष्टि से है । प्रत्येक मनुष्य अपनी अधिकांश इच्छाओं की संतुष्टि चाहता है । कभी कभी एक इच्छा की संतुष्टि दूसरी इच्छा की संतुष्टि में अवरोध डालती है । व्यक्ति की दूसरी प्रवृत्तियाँ तथा अन्य व्यक्तियों की प्रेरणाएँ भी कभी कभी इच्छाओं की संतुष्टि में बाधक बनती हैं ।

---

1. There are two ways in which impulses may be organised, by exclusion and by inclusion, by synthesis and by elimination - PPs. of Literary Criticism - P- No-196.

2. Anything is valuable which will satisfy an appetency without involving the frustration of some equal or more important appetency - Ibid - P- No. 36.

रिचर्ड्स की मान्यता है कि किसी आवेग को दबाने से अन्य आवेगों में जो विक्षुब्धि पैदा होती है, इसके आधार पर हम आवेगों के महत्व का निर्णय कर सकते हैं ।[1]

रिचर्ड्स कलात्मक मूल्यों में नैतिकता की सत्ता को स्वीकार करते हैं । कला के सामाजिक तथा नैतिक पक्ष की उपेक्षा को वे दुर्भाग्य समझते हैं ।[2] वे मानते हैं कि नैतिकता की समस्या, वस्तुतः संघटन (Organisation) की समस्या हैं । यह संघटन व्यक्तियों के जीवन के

---

1. The importance of an impulse, it will be seen,can be defined for our purposes as the extent of the disturbance of other impulses in the individual's activities which the thwarting of the impulse involves -----
By the extent of the loss, the range of impulses thwarted or starved , and their degree of importance , the merit of a systematisation is judged - Principles of Literary Criticism - P- No - 39.

2. What is more serious is that these indiscretions,vulgarities and absurdities, encourage the view that morals have little or nothing to do with the arts, and even the more unfortunate opinion that the arts have no connection with morality - Principles of Literary critcism - P- No - 24.

पारस्परिक समंजन से संबंधित है । अत: नैतिक विकास में भी आवेगों के परस्पर विरोध का विशेष महत्व होता है । वह व्यवस्था या संघटन सर्वोत्तम है, जिसमें मानवीय संवेदनाओं में न्यूनतम व्यर्थता या अपक्षय (waste) होता है ।[1] इसी तरह सबसे अच्छा नियम वह है जो पारस्परिक विरोध के बिना अधिकांश व्यक्तियों की इच्छाओं को तृप्त करने का विधान करता है । नैतिकता की तीन विशेषताओं का उल्लेख रिचर्ड्स ने किया है -[2]

1. नैतिकता, परिस्थिति-सापेक्ष हो,
2. नैतिकता गुह्यता, निरपेक्षता तथा यदृच्छा से मुक्त हो
3. नैतिकता मानवीय कार्यकलाप में कलाओं के स्थान और मूल्य के निरूपण में सक्षम हो, जो आज तक किसी नैतिकता ने नहीं किया है ।

इसप्रकार रिचर्ड्स ने काव्य की नैतिकता एवं मूल्यवत्ता को युग-सापेक्ष रूप में देखकर वैज्ञानिक पद्धति से उसकी व्याख्या करने का प्रयास किया । उन्होंने मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न मूल्य की मानसिक-स्थिति दर्शायी, जो कला की महत्ता को चिरस्थायी बनाये रखती है ।

---

1. That organisation which is least wasteful of human possibilities is in short the best PPs. of Liteary criticism P. No. 52.

2. A morality free from occultism, absolutes, and arbitrariness, a morality which will explain as no morality has yet explained, the place and value of arts in human affairs - Ibid - p. No- 44.

संप्रेषण-सिद्धांत

रिचर्ड्स के आलोचना-सिद्धांत का दूसरा आधार-स्तंभ है संप्रेषण-सिद्धांत । संप्रेषण कला का तात्त्विक धर्म है । प्रभावी अभिव्यंजना ही संप्रेषण है और संप्रेषण में समर्थ व्यक्ति कलाकार है । सार्थक और सचेतन अनुभूतियाँ ही अभिव्यक्त होकर संप्रेषण का विषय बन जाती हैं । संप्रेषण का सर्वाधिक उपयोग कला में होता है । रिचर्ड्स की मान्यता है कि "कलाएँ हमारी संप्रेषणात्मक क्रिया के उत्कृष्टतम रूप हैं ।"[1] कलाकार की सफलता की कसौटी है संप्रेषण । अनुभवी कलाकार काव्य-सर्जन द्वारा अपने विचारों को प्रेषणीय बनाना चाहता है । संप्रेषण-प्रक्रिया की पूर्णता में कलाकार, सहृदय तक पहुँच जाता है ।

संप्रेषण कलाकार का सीधा-उद्देश्य नहीं । अपनी कला को प्रेषणीय बनाने के लिए वह ज्ञानपूर्वक प्रयत्न नहीं करता । यदि वह अपनी कला को संप्रेषण योग्य बनाने के लिए अलग से प्रयत्न करेगा तो उसमें कृत्रिमता आ जाएगी । प्रेषणीयता की भावना उसके अवचेतन मन में वर्तमान है । यह प्रेषणीयता एक सहज मानसिक प्रक्रिया है । सामान्य मानव अपने परिवेश के प्रति एक निश्चित प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करता है । मानव के मन अलग अलग हैं, उनकी अनुभूतियाँ भी अलग अलग होती हैं । रिचर्ड्स की राय में "संप्रेषण की प्रक्रिया वहाँ घटित होती है, जहाँ अलग अलग

---

1. For the arts, are the supreme forms of our communicative activity - PPs. of Literary Criticism P.No 17.

व्यक्तियों की अनुभूतियों में समानता पायी जाती है ।[1] वे लिखते हैं - "जब एक मन अपने परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करता है कि दूसरा मन उससे प्रभावित होता है और उस दूसरे मन में ऐसी अनुभूति उत्पन्न होती है, जो प्रथम अनुभूति के समान और अंशत: उसके कारण उत्पन्न होती हैं ।"[2] इसप्रकार रिचर्ड्स संप्रेषण का संबंध भाव या अनुभूति से जोडते हैं । पाठक के मन में निष्पन्न वृत्तियों के संतुलन और सामरस्य में संप्रेषण का मूल्य निहित है । कला द्वारा प्रेषित अनुभूति को रिचर्ड्स "सामान्यीकृत अनुभूति" कहते हैं ।

कलाकार को संप्रेषण के लिए आवश्यक गुण

सफल संप्रेषण के लिए कलाकार के आवश्यक गुणों का उल्लेख करते हुए रिचर्ड्स कहते हैं कि कलाकार को अधिक विस्तृत, कोमल और मूल्यवान अनुभव, आवश्यक है । अनुभूति के विविध तत्वों में संबंध

---

1. All that occurs is under certain conditions, separate minds have closely similar experiences - PPs. of Lt. criticism P.No. 136.

2. Communication taks place when one mind so acts upon its environment that other mind is influenced and in that other mind an experience occurs which is like the expreience in the first mind and is caused in part by that experience - Ibid P. No. 137.

स्थापित करने में उसे अधिक सफल और स्वतंत्र होना है ।[1] अनुभूति के क्षणों में आवेगों का व्यवस्थित ढंग से संतुलन होना चाहिए । कलाकार के अनुभव अन्य लोगों के अनुभव के समान या समानांतर होना आवश्यक है । अनुभव की विभिन्नता को कल्पना द्वारा प्रेषणीय बनाने में उसे सक्षम होना है ।[2] वस्तु या स्थिति के पूर्णबोध के लिए उसमें जागरूक निरीक्षण-शक्ति (विजिलन्स) भी अपेक्षित है ।[3] अतीत के अनुभवों की सुलभता तथा उन्हें स्वतंत्र रूप से पुन: प्रस्तुत करने की क्षमता भी उसके लिए अनिवार्य है ।[4] संप्रेषण के लिए

---

1. The greatest difference between the artist or poet and the ordinary person is found, as has often been pointed out, in the range, delicacy and freedom of the connections, he is able to make between different elements of his experience - PPs. of Literary Criticism P- No. 140.

2. Ibid - P.No. 139 - 143

3. The degree of vigilance of the individual at the moment at which revival is attempted, is of course, equally but more evidently an important factor - Ibid- P.No- 142

4. It is this avaliable possession of the past which is the first characterestic of the adept in Communication, of the poet or the artist - Ibid- P-No. 140.

और एक महत्वपूर्ण गुण रिचर्ड्स कलाकार की साधारणता (नोरमालिटी) मानते हैं ।[1] यदि उसका मानस-गठन सर्वसाधारण से अलग है तो संप्रेषण संभव नहीं होगा । कलाकार की साधारणता के कारण उसके आत्मसंतोष के साथ साथ पाठक के संतोष का संयोग होता है । रिचर्ड्स कहते हैं कि अधिकांश आवेग और विभाव कलाकार और पाठक दोनों में समान रूप से होने पर संप्रेषण सफल होगा ।[2] प्रेषणीयता के लिए यह आवश्यक हो कि कलाकार के अनुभव अन्य व्यक्तियों के अनुभवों के मेल में रहें । संप्रेषण की सफलता के लिए असाधारण मात्रा में अनुभूति की समानता अपेक्षित है ।[3] कलाकार में प्रभावी अभिव्यंजना-क्षमता तथा श्रोता में विशिष्ट ग्राहिका-शक्ति, सफल संप्रेषण के लिए ~~लिए~~ अनिवार्य शर्तें हैं ।[4] वस्तुगत या शब्दगत उपादानों के द्वारा संप्रेषण को प्रभावशाली बना सकते हैं । छंद, लय, रूपरेखा आदि इसके सहायक-घटक हैं ।

संक्षेप में रिचर्ड्स ने साहित्यालोचन को वैज्ञानिक तथा

---

1. If the availability of his past experience is the first characteristic of the poet, the second is what we may provisionally call his normality - PPs. of literary Criticism P.No. 148.

2. Ibid - P. No - 140-143,149

3. Ibid - P.No. - 137

4. Ibid - P.No. - 137.

वस्तुनिष्ठ बनाने का प्रयास किया है । साथ ही साथ उन्होंने पाठक पर पड़नेवाले प्रभाव और प्रतिक्रिया पर भी विशेष प्रकाश डाला है । मनोविज्ञान के सहारे काव्य के भावपक्ष की व्याख्या कर, काव्य की मनोवैज्ञानिक भूमि का सिद्धांत उन्होंने दिया । क्लीन्थ ब्रूक्स ने रिचर्ड्स की प्रशंसा करते हुए यों कहा है कि समीक्षा पर मनोविज्ञान के मूल्यवान प्रभाव, फ्रायड की अपेक्षा रिचर्ड्स का अधिक है ।[1] मनोविज्ञान, अर्थ-विज्ञान, दर्शन एवं सौन्दर्य-शास्त्र के गहन अध्ययन एवं चिन्तन के फलस्वरूप उन्होंने एक व्यवस्थित, सांगोपांग एवं समन्वित काव्य-शास्त्र का निर्माण किया ।[2]

प्रार्विधिक पक्ष

काव्य, एक विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति है । इसमें भाव, शब्द, अर्थ, कल्पना और बुद्धि-तत्वों का सामंजस्यपूर्ण समन्वय होता है । भाषा का समर्थ प्रयोग काव्यानुभूति की प्रक्रिया का सशक्त आधार है । भाषा प्रेषण का सशक्त माध्यम है । कवि अपने भावों की अभिव्यक्ति के

---

1. The most fruitful and intensive application to literature of something like a new 'Science of Tropes' has infact come out of the influence of Richards rather than that of Freud - Literary criticism - A Short History - Winsatt & Brooks - P- 631.

2. रिचर्ड्स के आलोचना - सिद्धांत - शंभुदत्त झा - पृ. 164

लिए उपयुक्त भाषा, प्रतीकों और बिंबों का प्रयोग करता है और इनकी सहायता से पाठक के मन में मानव-सुलभ सहानुभूति जगाता है । रिचर्ड्स ने भाषा की प्रकृति और प्रयोग पर गंभीर विचार व्यक्त किये हैं । शब्द और अर्थ के संबंध को उन्होंने नया भाषिक स्वरूप प्रदान किया । भाषा में रागात्मक तत्व की उत्पत्ति का पहला साधन शब्द-विन्यास है । रिचर्ड्स शब्द को व्यापार मानते हैं । काव्य में शब्द केवल होता ही नहीं, वह कुछ करता भी है । यही शब्द-व्यापार है ।[1]

रिचर्ड्स ने भाषा के प्रयोग के दो भेद माने हैं - वैज्ञानिक (Scientific) और रागात्मक (emotive)। वैज्ञानिक के लिए उन्होंने प्रतीकात्मक (symbolic), निर्देशात्मक (referential), सूचनात्मक (informative) आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है । वैज्ञानिक भाषा तथ्यात्मक होती है । इसमें निरूपण या निर्देशन होता है । भाषा के वैज्ञानिक प्रयोग की सफलता के लिए निर्देशों के साथ साथ उनका परस्पर संबंध (relation) और संयोजन (connection) तर्कसंगत होता है ।

---

1. A statement may be used for the sake of the references, true or false, which it causes. This is the scientific use of language. But it may also be used for the sake of the effects in emotion and attitude produced by the reference it occasions. This is the emotive use of language - PPs. of Literary criticism - P- 267.

रागात्मक भाषा में भावों का उद्‌बोधन होता है । यह हमारी चित्तवृत्तियों को उद्‌बुद्ध करने में बिलकुल सक्षम है । काव्य-भाषा में रागात्मक तत्वों की प्रमुखता होती है । भाषा के रागात्मक प्रयोग के द्वारा पाठक के मन में, कवि के समान भावस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं ।[1]

अर्थ-मीमांसा

काव्य में अर्थ-तत्व का अपना महत्व है । सार्थक शब्दों के प्रयोग से काव्य में चमत्कार उत्पन्न होता है । शब्द का वह अर्थ, कल्पना और अनुभूति को सजग करता चलता है । अभिधार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ काव्य को प्रभावोत्पादक बना देता है । रिचर्ड्स ने शब्दार्थ के महत्व पर अपनी धारणाएँ व्यक्त की हैं । उनकी अर्थ संबंधी मीमांसा मुख्यत: "द मीनिंग ऑफ मीनिंग" में है । उसकी संक्षिप्त चर्चा "प्रॉक्टिकल क्रिटिसिज़्म" में हुई है । अर्थ को छोडकर शब्द के प्रभाव को समझना कठिन है । समस्त अध्ययन की मौलिक कठिनाई अर्थबोध की समस्या है ।[2] शब्द का "पूर्ण रूप", अर्थ, शब्द और उसका परिवेश, सबके सम्मिलन का संकीर्ण छोटा सा प्रपंच है । ऐ.ए. रिचर्ड्स इसे " full body of the word " कहते हैं । रिचर्ड्स ने काव्य में प्रयुक्त भाषा के अर्थ के चार भेद किये हैं - वाच्यार्थ (sense), भावना (feeling), वचन-भंगिमा (tone), अभिप्राय (intention)।[3]

---

1. Principles of Literary Criticism - P.No.211-212.
2. Practical Criticism - P.No. 180
3. Ibid - P- 190-191

भाषा की पूर्णता के लिए ये चारों अर्थाधार आवश्यक है । वाच्यार्थ में किसी वस्तु विशेष या विषय को शब्दों के द्वारा सूचित किया जाता है । जिस वस्तु की सूचना हम देते हैं, वह हमारे किसी न किसी भाव से संबद्ध होता है । टोन के द्वारा श्रोता के प्रति हमारा दृष्टिकोण व्यक्त होता है । भावों के प्रभाव के लिए कविता में विचारों की अभिव्यक्ति होती है । भाषा के प्रयोग के पीछे ज़रूर वक्ता का उद्देश्य रहता है । उद्देश्य से भाषा नियंत्रित होती है । कवि अर्थ के इन चारों घटकों की सहायता से ऐसा माध्यम तैयार करता है कि पाठक के मन में भी कवि के अनुरूप अवस्था उत्पन्न होती है । भाषा, कवि और पाठक के बीच प्रतीक, बिंब और ध्वन्यात्मकता का विधान करती है और संप्रेषण में कार्यरत होती है ।

लय और छंद (रिथम आन्ड मीटर)

काव्य में भाव, कल्पना और अलंकार के अतिरिक्त ध्वनि, छंद और लय का महत्वपूर्ण स्थान है । ये काव्य को संगीतात्मकता प्रदान करते हैं । सरस, मधुर और रमणीय भावों की सृष्टि करके पाठकों को तन्मय करने में ये सहायक हैं ।

रिचर्ड्स की राय में अक्षरों के अनुक्रम से उत्पन्न होनेवाली आकांक्षाओं, संतुष्टियों, निराशाओं एवं विस्मयों का संरचनात्मक संगठन

लय है ।[1] आवृत्ति (repetition) और प्रत्याशा (expectancy) ही लय की उत्पत्ति का आधार है ।[2] शब्दों की ध्वनि का पूर्ण प्रभाव लय के द्वारा ही संभव है । शब्द, ध्वनि के रूप में भावों को जगाते हैं । कविता में ध्वनि की नियुक्ति इसप्रकार होती है कि मन आगे कुछ खास अनुक्रमों के लिए तैयार हो जाता है । ध्वनियों की व्यवस्था के साथ साथ लय में गंभीर भावनाओं एवं अर्थों का नियोजन भी होता है । रिचर्ड्स के अनुसार कविता में अर्थ और संगीत लय के अभिन्न अंग है । लय अर्थ को और अर्थ लय को प्रभावित करता है ।[3]

छंद, लय का अधिक जटिल और व्यवस्थित रूप है ।[4] इसमें भी आवृत्ति और प्रत्याशा का गुण रहता है । इसका मूल तत्व भी उद्दीपन में न होकर अनुक्रिया में होता है ।[5] सर्वाधिक सूक्ष्म और कठिन उक्ति के लिए छंद एक अनिवार्य साधन है ।[6] छंद अक्षरों का निश्चित

---

1. This texture of expectations, satisfactions,disappoinments, suprisals, which the sequence of syllables brings about is rythm - pps. of Literary criticism P- No- 105-106.

2. Rhythm and its specialised form metre depend upon repetition and expectancy - Ibid- P- 103.

3. Practical criticism - P.No. 227.

4. PPs. of Literary Criticism - P- 103

5. It is not in the stimulation, it is in our response, - Ibid P- 107

6. Ibid - P- No-94.

"तार" नहीं, तार के उत्थान-पतन है ।[1] इसमें संमोहक प्रभाव (hypnotic effect) होता है ।[2] छंद में लय अधिक नियमित होकर प्रकट होती है । लय का निर्माण करनेवाली विविध परिणामयुक्त आकांक्षाओं को छंद रूप-विधान होता है । छंदों का महत्व, भाषा को उत्कृष्ट बनाने की उसकी क्षमता पर अधिष्ठित है ।

प्रतीक और बिंब

भाषा में वह संकेतात्मक शक्ति निहित है जो कलाकार और पाठक के बीच अखंड मानसिक संबंध की स्थापना करती है । भाषा की यह शक्ति इनके प्रतीकों और बिंबों में निहित है । प्रतीक ऐसे शब्द है जिनमें वस्तु-संकेत के साथ ही लेखक का भाव-संकेत भी निहित है । रिचर्ड्स भाषा को ऐसे प्रतीकों का समूह मानते हैं जो श्रोता-पाठक के मन के अनुरूप अवस्था उत्पन्न करते हैं ।[3]

रिचर्ड्स बिंब-विधान को भावों एवं विचारों को प्रभावित करने की शक्ति मानते हैं ।[4] कविता में अनुभूति का संप्रेषण बिंबों के माध्यम

---

1. PPs. of Literary Criticism - P.No. 108-110.
2. Ibid - P.No. 110
3. Ibid - P. No. 101, 212
4. Ibid - P.No. 94.

से होता है । प्रस्तुत अध्याय में काव्यास्वादन की प्रक्रिया के अंतर्गत इसका विस्तृत विवेचन किया गया है ।

अलंकार (metaphor)

काव्य-भाषा में रिचर्ड्स रूपक या अलंकार को विशेष महत्व देते हैं । रूपक को उन्होंने लाक्षणिकता के पर्याय के रूप में देखा है । उन्होंने इसे विविध संदर्भों के बीच आदान-प्रदान और भाषा में अलग से जोड़ी गई शक्ति मानी है । विरोधी-वस्तुओं में सामंजस्य अलंकार के द्वारा लाया जा सकता है ।[1] संप्रेषण के लिए भी आलंकारिक भाषा का प्रयोग प्रमुख है । कल्पनाशील व्यक्ति ही आलंकारिक भाषा का असामान्य प्रयोग करते हैं । आलंकारिक अभिव्यक्ति कल्पना-प्रेरित होती है । कल्पना-शक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किया हुआ अप्रस्तुत विधान अलंकार की सृष्टि ही नहीं करता, सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को प्रकट करने में भी समर्थ होता है ।[2]

काव्य का प्रयोजन

आनंद-प्राप्ति प्राय: कला का उद्देश्य मानी जाती है । लेकिन रिचर्ड्स आनंद को काव्यानुभूति की आनिवार्य विशेषता नहीं मानते ।

---

1. Principles of literary criticism - P.No. 188-189.

2. Most descriptions of feeling and nearly all subtle descriptions are metaphorical & of the combined type -

उसे वे प्रक्रिया जनित उपोत्पन्न या उपसृष्ट (byproduct) मानते हैं । आनंद या निरानंद उनकी दृष्टि में आवेग की चेतन विशेषताएँ हैं । प्रत्येक क्रिया का विशेष लक्ष्य होता हैं, जिसकी पूर्ति होने पर आनंद उत्पन्न होता है । लेकिन आनंद क्रिया का अंतिम लक्ष्य नहीं ।

काव्य और कला के संबंध में प्रचलित कलावादी सिद्धांतों का पूरा निराकरण रिचर्ड्स करते हैं और संतुलन और समन्वय को काव्य का गुण मानते हैं । काव्य और कलाएँ मन में अव्यवस्थित रहनेवाले आवेगों को व्यवस्थित कर मस्तिष्क को सुख पहुँचा देती हैं । काव्यानुभूति में हमारी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ, एषणाएँ तथा विमुखताएँ संयोजित हो जाती हैं और उनके बीच समरसता स्थापित हो जाती है । सामंजस्य की अवस्था में सहृदय पाठक भी अपनी निजी अवस्थाओं को एक क्षण के लिए भूलकर सर्जक के भावों के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है । इसप्रकार कला जीवन को एक उदात्त, स्वस्थ और सुन्दर दृष्टिकोण प्रदान करने में योग देती है ।

निष्कर्ष

रिचर्ड्स मूलत: मनोवैज्ञानिक समीक्षक है । जीवन और साहित्य के प्रति मनोवैज्ञानिक मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाकर वे

---

1. PPs. of Literary Criticism P.No. 73.

साहित्य का मूल्य निर्धारित करते हैं । सृजन-अनुभव को वे एक मनोवैज्ञानिक अनुभव मानते हैं । उनके मत में मूल्य और संप्रेषण ही आलोचना के दो आधार-स्तंभ हैं । मूल्य का संबंध आवेगों की संतुष्टि से है और संप्रेषण का संबंध भाषा से है । कला का मूल्य इसमें है कि वह ऐसी अनुभूति का संचार करने में सक्षम होती है जो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच सामंजस्य लाता है । कलात्मक अनुभूति जीवन की सामान्य अनुभूति से एकदम भिन्न नहीं । इस अनुभूति की प्रमुख विशेषता उसकी सर्वग्राह्यता है । रिचर्ड्स के काव्य-भाषा और अर्थ संबंधी विचार मौलिक एवं गंभीर हैं । शब्द-विन्यास, लय, छंद, बिंब, प्रतीक, अलंकार आदि काव्यानुभूति की उत्पत्ति के सफल साधन हैं ।

अध्याय - पाँच

शुक्लजी और रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांत - एक तुलना

अध्याय - पाँच

शुक्लजी और रिचर्ड्स के समीक्षा -सिद्धांत
एक तुलना

रामचन्द्र शुक्ल और ऐ.ए. रिचर्ड्स के समीक्षा - संबंधी विचारों के गहरे अध्ययन से यह व्यक्त होता है कि इन दोनों के समीक्षा-सिद्धांतों में काफी समानताएँ हैं । दो समकालीन साहित्य-चिन्तकों में विचारगत समानताओं का होना अस्वाभाविक नहीं । शुक्लजी भारतीय हैं और रिचर्ड्स अंग्रेज़ । देश, संस्कृति, जीवन-परिवेश तथा प्रभाव में भिन्नता होते हुए भी इनकी विचारधाराओं और मान्यताओं में समानता लक्षित होती है । दोनों के काव्य-सिद्धांतों का आधार मनोविज्ञान है । मनोविज्ञान के आधुनिक स्वरूप से दोनों परिचित एवं प्रभावित थे ।

शुक्लजी ने रस-सिद्धांत की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है । "हिन्दी साहित्य का इतिहास" तथा "चिन्तामणि" के निबंधों में अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करके उनका समर्थन भी उन्होंने किया है और प्रमाणार्थ रिचर्ड्स के वाक्यों को उद्धृत किया है ।[1] रिचर्ड्स ने "प्रिंसिपिल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज़्म" के समीक्षात्मक निबंधों में कला-मीमांसा संबंधी अनुभव का मनोविज्ञान के आधार पर विश्लेषण किया था ।

---

1. चिन्तामणि - भाग (2) - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 14

आगे हम देखेंगे कि किन किन पक्षों पर ये दोनों सहमत हैं और असहमत हैं ।

कविता की परिभाषा

शुक्लजी और रिचर्ड्स ने अपने अपने दृष्टिकोण से कविता की परिभाषा की है । शुक्लजी की दृष्टि में - "कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष-सृष्टि के साथ, मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है तथा उसके हृदय का प्रसार और परिष्कार होता है ।"[1] "हृदय की मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहती है ।"[2] शेष-सृष्टि से उनका तात्पर्य, मानव तथा मानवेतर प्राणियों से युक्त इस चराचर जगत् से है, जहाँ से कवि को अनुभूति की प्राप्ति होती है । सृष्टि के विविध रूपों के साथ जब हमारे हृदय का लगाव हो जाता है, तब वे हमारे भावों के विषय बन जाते हैं और उनके साथ हमारा रागात्मक संबंध स्थापित हो जाता है । सृष्टि और व्यष्टि परस्पर संपृक्त होने पर भी दो पृथक सत्ताएँ हैं । कविता इनका पारस्परिक संबंध सुदृढ़ बनाती है । अतः शुक्लजी हृदय में भावों को उद्‌बुद्ध करने में

---

1. चिन्तामणि - भाग (2) - पृ. 208-209
2. चिन्तामणि - भाग (1) - पृ. 97

सक्षम उक्ति को ही काव्य मानते हैं ।[1]

रिचर्ड्स भी काव्य में अनुभूति के महत्व को स्वीकार करते हैं । वे मूर्त अनुभूतियों को कविता मानते हैं । उनके विचार में कविता अनुभूतियों का वर्ग है, जो मानक अनुभूति से एक निश्चित परिणाम से अधिक भिन्न नहीं होता ।"[2] अर्थात् कविता अनुभूतियों का एक वर्ग है । ये अनुभूतियाँ, निश्चित अनुभूति से भिन्न हैं । परन्तु उनका विभेद सीमित है । कविता रचते समय कवि की जो निजी अनुभूति है, वही मौलिक या निश्चित अनुभूति है ।[3] वह मानक अनुभूति मूल रूप से लेखक की है ; व्यावहारिक रूप से पाठक की भी । कविता कवि के मूल अनुभव तथा पाठक के तत्वतः उसके समान अनुभवों का तत्वतः संयोग है जिसमें "श्रवणात्मक" "उच्चारणात्मक" तथा "पदयोजना" से श्रृंखलित बिंबों का समाहार होता है ।[4]

---

1. तात्पर्य यह कि कविता मनोवेगों को उत्तेजित करने का एक उत्तम साधन है । कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वासित करके हमारे जीवन में एक नया जीव डाल देती है ।
   चिन्तामणि - भाग (3) - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 91
2. Principles of literary criticism - I.A.Richards P.No.178.
3. Ibid
4. Ibdi - P.No. 226-227

रिचर्ड्स और शुक्लजी दोनों कविता को अनुभूति-प्रधान मानते हैं और कवि की अनुभूति तथा उसके अनुभव को काव्य का उपकरण मानते हैं । शुक्लजी ने कविता की परिभाषा सहृदय की दृष्टि से की है । वे कविता को हृदय की मुक्ति-साधना का साधन मानते हैं । उनकी परिभाषा पर भारतीय रसवाद की स्पष्ट छाप है । शुक्लजी की अपेक्षा रिचर्ड्स की दृष्टि अधिक मनोवैज्ञानिक प्रतीत होती है । वे कविता की परिभाषा, कवि की दृष्टि से करते हैं । कविता की परिभाषा करते समय, वे शुक्लजी से भी आगे बढ़ते हैं । केवल मनोविज्ञान के आधार पर वे कविता की परिभाषा नहीं देते हैं । सिराविज्ञान (Neurology) के अध्येता होने के कारण, उसके आधार पर भी वे अनुभूति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं । फलतः अनुभूति संबंधी उनका विचार, मौलिक एवं नूतन है ।

काव्यानुभूति का स्वरूप

युगानुसार समीक्षकों की काव्यानुभूति संबंधी विभिन्न धारणाएँ प्रचलित होती हैं । आधुनिक समीक्षक परंपरागत सिद्धांतों का खंडन करते दिखाई देते हैं । वे रसानुभूति को काव्यानुभूति मानते हैं । उनकी दृष्टि में यही काव्यानुभूति, जीवनानुभूति है, सौन्दर्यानुभूति है ।

शुक्लजी ने रसानुभूति या काव्यानुभूति के संबंध में प्रचलित "लोकोत्तर", "ब्रह्मानुद सहोदर" आदि विशेषणों का विरोध करके उसे "लोकसामान्य" बताया है । उन्होंने रसानुभूति को लौकिक अनुभूति से भिन्न नहीं माना, अपितु उसीका उदात्त और अवदात्त रूप माना है ।[1] काव्य के संबंध में जीवन और जगत् के बाहर की बात कहना वे नकलीपन समझते थे । उनके अनुसार हमारे संपूर्ण काव्य-क्षेत्र में जीवन के विभिन्न पक्षों और जगत् के नाना रूपों के साथ मनुष्य हृदय का गूढ़ सामंजस्य मिलता है ।[2] लेकिन जीवन के अन्य साधनों की अपेक्षा, काव्यानुभव में यही विशेषता होती है कि यह एक ऐसी रमणीयता के रूप में होती है, जिसमें व्यक्तित्व का लय होता है । शुक्लजी प्रत्यक्ष या वास्तविक जीवन की अनुभूतियों को रसानुभूति के अंतर्गत मानते हैं । रसानुभूति का मूल तत्व, पृथक सत्ता की भावना का परिहार है ।[3] काव्य में प्रस्तुत विषय को हम शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ही ग्रहण करते हैं । प्रत्यक्ष जीवन की अनुभूति वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त हो तो वह रसानुभूति के तुल्य है ।

शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित रसानुभूति की सभी विशेषताएँ, रिचर्ड्स द्वारा उल्लिखित काव्यानुभूति में मिलती हैं । रिचर्ड्स भी ऐस्थटिक

---

1. रसमीमांसा - पृ. 224
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 387
3. चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 199

अनुभव को वास्तविक अनुभव से पृथक करना भूल मानते हैं । वे कविता के जगत् का शेष जगत् से किसी भी अर्थ में अलग अस्तित्व नहीं मानते । सौंदर्यानुभव को वास्तविक जीवनानुभव से इतर बताना वे भ्रामक मानते हैं ।[1] उनके अनुसार, काव्यानुभूति वैसी ही अनुभूतियों से बनी है, जैसी दूसरे साधनों में हमें प्राप्त होती है ।[2] पर अन्य अनुभूतियों की तुलना में काव्यानुभूति अधिक जटिल, एकीकृत और संकुल है ।[3] सौन्दर्यानुभूति की अवस्था में वैयक्तिक संबंधों का त्याग रिचर्ड्स भी आवश्यक मानते हैं । उनके मत में कभी कभी अत्यंत शोक और अप्रत्याशित सुख की उपस्थिति में हम संकीर्ण स्वार्थपरता से मुक्त होते प्रतीत होते हैं और हमारे अस्तित्व की वास्तविकता के दर्शन होते हैं ।[4] इस प्रकार रिचर्ड्स भी जीवन की कुछ दशाओं में वास्तविक अनुभूति में रसानुभूति की विशेषता देखते हैं ।

---

1. The separation of poetic experience from its place in life and its ulterior worths, involves a definite lop-sidedness, narrowness and incompleteness in those who preach it sincerely - Principles of literary criticism P. No.60.

2. Ibid P.No. 78

3. Ibid P.No. 16

4. Ibid P.No. 191

काव्यानुभूति के स्वरूप के संबंध में शुक्लजी और रिचर्ड्स एक ही मार्ग के पथिक हैं । दोनों पार्थिव जीवन की अनुभूति को काव्यानुभूति का मूल स्रोत मानते हैं । दोनों कविता का संबंध जीवन और जगत् के साथ जोडकर वास्तविक जीवन की अनुभूति में काव्यानुभूति की विशेषता देखते हैं ।

काव्यानुभूति और काव्यास्वाद

काव्यास्वाद की प्रक्रिया को लेकर भारत एवं पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों में दृष्टिभेद वर्तमान है । कलावादियों ने इस एक उत्तर दिया तो भौतिकवादियों ने उससे नितांत भिन्न कलावादी काव्य-सर्जन और काव्यास्वाद को नितांत व्यक्ति-सत्य स्थापित करना चाहते हैं । भौतिकवादी बाह्य-जगत् को ही आत्यंतिक सत्य स्वीकार करते हैं । इन सबसे भिन्न कुछ समीक्षक काव्य तथा काव्यानुभव का संबंध मनुष्य के मौलिक भावों तथा भाव के प्रसरण क्षेत्र से मानते हैं । इनमें प्रमुख हैं - शुक्लजी और रिचर्ड्स । काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विश्लेषण इन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया है ।

शुक्लजी के काव्य-सिद्धांतों का मूल स्रोत भारतीय रस-सिद्धांत है । लेकिन इनमें पाश्चात्य मनोविज्ञान का भी पुट है । भाव एवं मनोविकार संबंधी उनके निबंध मनोविज्ञान संबंधी उनके गहरे ज्ञान के ज्वलंत प्रमाण हैं । रस-विवेचन का बीज रूप भी इन मनोवैज्ञानिक निबंधों में मिलता है । रस को मनोमय कोश के भीतर रखकर भावयोग के रूप में उसकी प्रतिष्ठा करना शुक्लजी की मनोवैज्ञानिक चिंतन-दृष्टि का परिणाम है ।

शुक्लजी मन को रूप-गतिमय मानते हैं । मन, बाह्य-जगत् का प्रतिबिंब है । जिसप्रकार जगत अनेक रूपात्मक है, उसी प्रकार मन अनेक भावात्मक है । भावों की सत्ता अनुभूति पर निर्भर है । विषय-जगत् के बिना, बाह्य-जगत् के बिना अनुभूति का अस्तित्व नहीं । भावों की अभिव्यक्ति ही कविता है । भावों के उपयुक्त विषयों को सामने रखकर सृष्टि के नाना रूपों के साथ मानव हृदय का सामंजस्य स्थापित करना ही काव्य का लक्ष्य है । यही भावयोग है ।[1] इसकी चरम-साधना से हृदय को मुक्तावस्था प्राप्त होती है जो रसदशा है । अतः शुक्लजी काव्य को रसात्मक और रस को भावात्मक मानकर भावों के आधार पर रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार भाव एक मनोवैज्ञानिक संकल्प है, इसलिए इसका विवेचन एवं विश्लेषण, मनोविज्ञान के आधार पर ही किया जा सकता है । विभाव, अनुभाव, संचारी भाव तथा स्थायी-भाव के भीतर काव्य के अनेक तत्वों को समाहित कर, मनोविज्ञान की कसौटी पर स्थायी भावों का लक्षण वे निर्धारित करते हैं । इस कार्य में उन्हें मुख्यतः पाश्चात्य भाववेत्ता शैण्ड तथा ऐ.ए. रिचर्ड्स से प्रेरणा मिली थी । शुक्लजी के भाव-विवेचन में प्रत्येक भाव की उत्पत्ति, लक्षण तथा परिणति का पेरा विवरण प्राप्त होता है । सबसे पहले उन्होंने भाव को मनोवेग या मनोविकार कहा है ।[2] उनके अनुसार मन का प्रत्येक वेग

---

1. रसमीमांसा - पृ. 17-20
2. नाना विषयों के बोध का विधान होने पर भी उनसे संबंध रखनेवाली इच्छा की अनेकरूपता के साथ अनुभूति के भिन्न भिन्न योग संघटित होते हैं, जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं - चिंतामणि - भाग 1-पृ. 1

भाव नहीं है, मन का वही वेग भाव है जिसमें प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति का गूढ़ संश्लेष मिलता है ।[1] अतः वे भाव की मनोवैज्ञानिक व्याख्या यों करते हैं - "भाव एक वृत्तिचक्र (System) है जिसमें आलंबन या प्रत्यय (Cognition), इच्छा या संकल्प (Conation), गति या प्रवृत्ति (tendency), शरीर -धर्म (Symptoms) सबका योग रहता है ।[2] उनका यह भाव-निरूपण शैण्ड के भाव-निरूपण के अनुरूप है । शैण्ड ने प्रत्येक भाव को एक व्यवस्था-चक्र माना है, जिसके साथ अव्यक्त रूप में शेष भावों का संबंध रहता है ।[3]

भावों का आधार भौतिक जगत और जीवन है । शुक्लजी भावों को मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त करते हैं - सुखात्मक और दुःखात्मक ।[4] सुख और दुःख ही जीवन की केन्द्रीय अनुभूतियाँ हैं जो विषय-भेद के अनुसार नये नये भावों को पैदा करती हैं । ये अनुभूतियाँ हमारी इच्छा पर अवलंबित हैं । ये हमारी क्रियाओं को गति प्रदान करती हैं । सुखात्मक वर्ग में वे राग, हास, उत्साह और आश्चर्य को स्थान देते हैं और

---

1. रसमीमांसा - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 135
2. रसमीमांसा - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 88
3. रसमीमांसा - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 136
4. रसमीमांसा - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 153

दुःखात्मक वर्ग में शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा को । शुक्लजी हर एक भाव का सूक्ष्म निरीक्षण कर मनोविज्ञान के अनुरूप तथा सामाजिक धरातल पर उनकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । ईर्ष्या, भय, क्रोध, उत्साह, करुणा, भक्ति आदि मनोविकारों की उनकी परिभाषा यों हैं - साहसपूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है ।[1]

भक्ति, धर्म की रसात्मक अनुभूति है ।[2] ईर्ष्या, सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक संस्कार भाव है ।[3] दुःख के कारण की स्पष्ट धारणा से क्रोध का उदय होता है ।[4] क्रोध, शांति भंग करनेवाला मनोविकार है ।

जीवन-निर्वाह की सुगमता के लिए करुणा की ज़रूरत है ।[5] सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है ।[6]

---

1. चिन्तामणि - भाग ।-रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 5
2. वही - पृ. 3
3. वही - पृ. 74
4. चिंतामणि - भाग । - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 90
5. वही - पृ. 31
6. वही - पृ. 35

किसी आती हुई आपदा की भावना के कारण के साक्षात्कार से उत्पन्न आवेगपूर्ण मनोविकार है भय ।[1]

इनसे यह स्पष्ट होता है कि भावों की उत्पत्ति का स्रोत, मनुष्य का सामाजिक व्यवहार है ।

शुक्लजी का भाव-निरूपण रस पर अधिष्ठित है । वे जीवन में सभी प्रकार के भावों का समावेश आवश्यक मानते हैं । उनके अनुसार, प्रत्येक भाव, वासना के रूप में अंतर्हित स्थायी-दशा को प्राप्त हो सकता है, जिसे वे स्थायी -भाव या भावकोश की संज्ञा देते हैं । भावकोश एक ऐसी संघटित प्रणाली हैं जिसमें भिन्न भिन्न भावों का संचार होता है । ये स्थायी होते हैं । हर मानव में स्थायी-भाव वासना रूप में वर्तमान हैं । ये संख्यातीत हैं । हममें जो संस्कार होता है, प्रत्यक्ष जीवन में हमें जो अनुभूति प्राप्त होती है, वही वासना रूप में हमारे अंत:करण में पडी रहती है । स्थायी-भाव का परिपाक ही रस होता है । काव्य में वर्णित पात्रों के मनोविकारों की व्यंजना सहृदय के वासना रूप में गुप्त मनोविकारों को जागरित करते हैं और वे साधारणीकृत होकर रस रूप में परिणत होते हैं ।

---

1. चिंतामणि - भाग । - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 85

शुक्लजी सभी स्थायी-भावों और रसों का विस्तार से विचार करते हैं । उदाहरण के लिए, उनके अनुसार किसी सहृदय में "शोक" मनोविकार का जो संस्कार होता है, वह "शोक-रस" में परिणत न होकर "करुण रस" में परिणत होता है । इसीप्रकार रति स्थायी-दशा है, इसका मूलभाव है राग । इसीतरह संताप, वैर, आशंका, विरति आदि के मूल भाव क्रमशः शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा है ।[1]

इस - दशा में हमारे मनोभावों का परिष्कार होता है । यही "हृदय की मुक्तावस्था" या "लोकहृदय में व्यष्टि-हृदय के लीन होने की अवस्था है ।[2] इस अवस्था में मनुष्य वैयक्तिक स्वार्थ-संबंधों से मुक्त होकर अनुभूति मात्र बन जाती है । व्यक्तिगत लौकिक संबंधों में उपस्थित मनोवेग ही वैयक्तिक राग-द्वेष के अभाव में रस-रूप में परिणत होते हैं । रस-दशा में मनोभावों का परिष्कार तथा स्वभाव-संशोधन होता है । मनोभावों के परिष्कार के लिए, जगत् के विभिन्न रूपों के साथ हमारे हृदय की सामंजस्यपूर्ण अनुभूति आवश्यक है ।[3]

---

1. रसमीमांसा - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 152-183
2. वही - पृ. 90
3. चिन्तामणि - भाग 1।1 - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 97

शुक्लजी के विचार में अनुभूति-द्वन्द्व से प्राणी का जीवन शुरू होता है ।[1] यह द्वन्द्व सुख और दुःख का द्वन्द्व है । मनुष्य के शरीर के दक्षिण और वामपक्षों की भाँति शुक्लजी ने उसके हृदय के भी कोमल और कठोर तथा मधुर और तीक्ष्ण पक्ष मान लिये हैं, और इन दोनों के समन्वय में काव्य की रमणीयता दिखायी है ।[2] जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर सौंदर्य का साक्षात्कार करनेवालों को वे कवि मानते है ।[3] अपने मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर शुक्लजी अन्तः प्रकृति में निहित अनेक भावों तथा वृत्तियों और बाह्य-प्रकृति में उपलब्ध अनेक रूप-व्यापारों का उल्लेख करते हुए, दोनों विधानों में जटिलता दिखाते हैं । परस्पर संबद्ध विविध वृत्तियों के सामंजस्य में वे काव्यानुभूति का परम उत्कर्ष और सबसे बडा मूल्य देखते हैं ।[4] सामंजस्य, काव्य और जीवन की सफलता का मूलमंत्र है । शुक्लजी का कहना है कि "यह समन्वयशील दृष्टि वाल्मीकि के काव्य में अवश्य है, अब समालोचक रिव्यूस में मिलता है ।"[5]

---

1. चिंतामणि - भाग 1 - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 1
2. रसमीमांसा - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 51
3. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 146
4. "न तो अंतःप्रकृति में एक ही प्रकार के भावों या वृत्तियों का विधान है और न बाह्य-प्रकृति में एक ही प्रकार के रूपों या व्यापारों का । भीतरी और बाहरी दोनों विधानों में घोर जटिलता है । इन्हीं परस्पर संबद्ध वृत्तियों के सामंजस्य काव्यानुभूति का परम उत्कर्ष और सबसे बडा मूल्य है - चिन्तामणि - भाग 2 - पृ. 55-56
5. चिन्तामणि - भाग 2 - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 14

रिचर्ड्स के समीक्षा -सिद्धांतों का मूल आधार मनोविज्ञान है । लेकिन वे सिरा विज्ञान, व्यवहारवादी मनोविज्ञान (behaviorustic Psychology) तथा सामग्रय (gestalt) मनोविज्ञान के विचारों से भी पोषित है ।[1] इन्हीं संप्रदायों के आधार पर काव्यानुभुति की प्रक्रिया में सहायक मानसिक घटनाओं की व्याख्या वे करते हैं । उद्दीपन-अनुक्रिया (stimulus-response) के रूप में वे सभी व्यवहारों की व्याख्या करते हैं । उनके मत में मन स्नायुतंत्र (nervous-system) या उसकी क्रियाओं का एक अंग है ।[2] स्नायुतंत्र वह साधन है जिसके द्वारा बाह्य-जगत् से प्राप्त उद्दीपन उपयुक्त व्यवहार के रूप में प्रतिफलित होते हैं ।[3] उद्दापन-अनुक्रिया के अनुकूलन की प्रक्रियाओं में सारी मानसिक घटनाएँ घटित होती हैं ।

रिचर्ड्स आवेगों को ही अपने मनोवैज्ञानिक मूल्य-सिद्धांत का आधार बनाते हैं । मानसिक घटना के मूल तत्वों के रूप में वे कारण (cause), वैशिष्ट्य (character) और परिणाम या प्रभाव को स्वीकार करते हैं । वे मन को आवेगजाल मानते हैं । आवेगों की संख्या अनगिनत है ।

---

1. Principles of Literary criticism P.No. 62-69
2. Ibid P.No. 65
3. Ibid P No. 83

मानव-मन में कई परस्पर विरोधी आवेग हैं और इनके बीच टकराहट भी होती है ।[1] इनमें दो प्रमुख हैं - इच्छा, आकांक्षा, प्रेरणा, एषणा (appetency) और वितृष्णा (aversion) । कला का वास्तविक मूल्य इन दो परस्पर विरोधी वृत्तियों के सामंजस्य में निहित है । जीवन में मूल्यों की प्राप्ति आवेगों के समन्वय (co-ordination) तथा सामंजस्य (harmonisation) पर निर्भर है । रिचर्ड्स उसी संगठन को महत्वपूर्ण मानते हैं जो किसी भी इच्छा की तुष्टि, किसी समान या अधिक महत्वपूर्ण इच्छा को कुंठित किये बिना करता है ।[2] विभिन्न आवेगों में संतुलन की प्रक्रिया को वे सहसंवेदनीयता (Synaesthesis) करते हैं । आगे चलकर इसके लिए वे "सिंथसिस" तथा "इनक्लूषन" (Synthesis, inclusion) शब्द का प्रयोग करते हैं ।[3] सौंदर्यानुभूति का मूल आधार उनकी दृष्टि में यही "साईनेस्थसिस" की प्रक्रिया है । इससे हमारी अनुक्रियाओं का उन्नयन

---

1. Always some impulses or set of impusles can be found which in one way or other, interfoeres or conflicts with other - Principles of literary criticism - I.A.Richards - P. No.46

2. Anything is valuable which will satisfy an appetency wihtout involving the frustration of some equal or more important appetency - Ibid P.No. 48

3. Ibid P.No. 196

होता है और अभिवृत्तियाँ (attitudes) उदात्त बन जाती हैं । कला या साहित्य परस्पर विरोधी वृत्तियों को संगठित कर उनमें सामंजस्य स्थापित करता है ; स्नायुमंडल को सुख पहुँचाता है ।

काव्यानुभूति के विश्लेषण में शुक्लजी और रिचर्ड्स काफी निकट हैं । शुक्लजी मन की विभिन्न अवस्थाओं और प्रवृत्तियों के आधार पर रस-निरूपण करते हैं । वे रसानुभूति की प्रक्रिया में, प्रत्येक व्यक्ति में वासना रूप में स्थित असंख्य स्थायी-भावों की उपस्थिति मान लेते हैं । मनोभावों से उद्भूत आस्वाद को वे रस मानते हैं । रिचर्ड्स भी काव्यानुभूति की प्राक्रिया में, मानव-मन में वर्तमान अनगिनत आदिम आवेगों की सत्ता ग्रहण कर लेते हैं । उद्दीपन - अनुक्रियाओं के रूप में काव्यानुभूति का विश्लेषण कर आवेगों और अभिवृत्तियों को वे प्रमुखता देते हैं । इसप्रकार शुक्लजी और रिचर्ड्स कविता का मूल्य उसकी भावात्मकता में देखते हैं । परस्पर विरोधी वृत्तियों के संगठन और सामंजस्य में दोनों काव्यानुभूति के मूल्य की परख करते हैं । सौंदर्यानुभूति के प्रसंग में शुक्लजी के "विरोधों का सामंजस्य," रिचर्ड्स के "अंर्तवृत्तियों के समीकरण" अथवा "साइनेस्थसिस" के निकट है । शुक्लजी लोकजीवन के विभिन्न पक्षों-जैसे सुख-दुःख, आशा-निराशा से मंडित तुलसी काव्य को आदर्श काव्य घोषित करते हैं तो रिचर्ड्स करुणा और भय जैसे विरोधी भावों के समन्वय से युक्त "ट्राजडी" को श्रेष्ठ काव्य मानते हैं । शुक्लजी व्यक्तित्व का लय, पृथक सत्ता की भावना का परिहार, लोकसामान्य भावभूमि की पहुँच आदि को रसानुभूति की विशेषताएँ बताते हैं । रिचर्ड्स

भी आवेगों के संतुलन से प्राप्त अखंड मनःस्थिति, अहं का विसर्जन और तटस्थता को स्वीकार करते हैं ।

शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनों काव्यानुभूति का सामान्य विश्लेषण मनोविज्ञान के आधार पर अपने अपने ढंग से करते हैं । काव्य-सर्जना के मूल में अचेतन मन की अभिव्यक्ति को दोनों को स्वीकार्य है । शुक्लजी के भाव-विवेचन का मूलस्रोत मनोविज्ञान हैं, परंतु उसका अध्ययन एवं विश्लेषण उन्होंने मौलिक दृष्टि से किया है । उनके मनोविज्ञान का एक ठोस सामाजिक आधार है । उनके अनुसार काव्य की महानता, लोकमंगल की भावना पर अधिष्ठित है । अतः भावों की श्रेष्ठता भी इसी सामाजिक परिणाम पर आधारित है । शुक्लजी का भाव-निरूपण उनकी स्वतंत्र समीक्षात्मक दृष्टि का प्रमाण है । उनके मनोविज्ञान में लोकसंग्रह एवं सामाजिक उत्थान की भावना निहित है । रिचर्ड्स, किसी वस्तु की

---

1. संसार में जितना कुछ अद्भुत, मधुर, सुन्दर, दीप्त हमारे सामने आता है, उतने ही तृप्त न होने के कारण अधिक की इच्छाएँ हमारी अंतसंज्ञा में दबी रहती है । वे ही इच्छाएँ तृप्ति के लिए कविता के रूप में व्यक्त होती है और श्रोताओं को भी तृप्त करती है - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - प्रतिनिधि निबंध - सुधाकर पांडेय - पृ. 48

अच्छाई या बुराई मूल्य पर निर्भर मानते हैं ।[1] इच्छाओं की संतुष्टि और असंतुष्टि के आधार पर वे वस्तु का मूल्य-निर्णय करते हैं । रिचर्ड्स का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण किसी एक मनोविज्ञान-संप्रदाय का पूरा अनुकरण नहीं करता । वस्तुतः उनका मनोविज्ञान, जैसे पहले बताया गया, जी. एफ. स्टौट के "प्री बिहेवियरिज़म" विलियम जेम्स के "न्यूरोफिसियोलजी" सि. एस. शरींग्टन के उद्ग्रथनवृत्ति तथा गेस्टॉलट के सामग्रय मनोविज्ञान

---

1. To habilitate the critic, to defend accepted standards against Tolstoyan attacks, to narrow the interval between these standards and popular taste, to prtoect the arts against the Crude moralities of Puritans and perverts, a general theory of value, which will not leave the statement "This is good, that bad" either vague or arbitrary must be provided. There is no alternative open --- For if a well - grounded theory of value is a necessity for criticism, it is no less true that an understanding of what happens in the arts is needed for the theory. The two problems, "What is good," and "What are the arts"? reflect light upon one another - Principles of literary criticism - I.A.Richards - P.No: 27

का "साचुरेटड फॉर्म" (Saturated form) है।[1] उनके अनुसार भविष्य में मानसिक क्रियाओं का जो विवरण होगा, वह भी इन्हीं व्यवहारवादी, मनोविश्लेषणवादी और सामग्रयवादी मनोविज्ञानों के अध्ययन के आधार पर होगा।[2]

साधारणीकरण या संप्रेषण

शुक्लजी रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में साधारणीकरण - सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सबके उसी भाव का आलंबन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण-शक्ति नहीं आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ "साधारणीकरण" कहलाता है।"[3] अन्यत्र वे लिखते हैं - "किसी काव्य में

---

1. I.A.Richards Essays in his honor- edited by Reuben Brower- P.28.

2. But the kind of account which is likely to be substantiated by future research has become clear, largely through the work of Behaviourists and Psychonalysts, the assumptions and results of both needing to be corrected however in ways which the recent experimental and theoretical investigations of the 'Gestalt' school are indicating - Principles of Literary Criticism- I.A.Richards P- No. 64.

3. चिन्तामणि - भाग (1) - पृ. 155

वर्णित आलंबन, केवल भाव की व्यंजना करनेवाले पात्र (आश्रय) का ही आलंबन नहीं रहता, बल्कि पाठक या श्रोता का भी, एक ही नहीं, अनेक पाठकों और श्रोताओं का आलंबन हो जाता है ।"[1] इस प्रकार साधारणीकरण की प्रक्रिया भावयोग से संपन्न होती है, जिसके द्वारा कलाकार अपने स्वयं की सत्ता को लोकसत्ता में विलीन कर देता है । अतः पृथक सत्ता की भावना का परिहार रस-दशा में आवश्यक है । शुक्लजी की राय में पाश्चात्य समीक्षकों के "अहं का विसर्जन और तटस्थता" में भी यही तात्पर्य है ।[2]

प्रेषण का कार्य तभी संभव होता है, जब काव्य का उपकरण मानवगत अनुभव हो । कवि के निजी अनुभव इसप्रकार जबतक प्रस्तुत न किया जाय, कि उसमें उसका साधारणीकरण संभव हो सके, तब तक प्रेषण का कार्य असंभव है । रसानुभूति के समय कलाकार की अनुभूति सबकी अनुभूति होती है । कभी कभी, भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई कुछ परोक्ष वस्तुओं की वास्तविक स्मृति को भी शुक्लजी रसात्मक मानते हैं ।[3]

---

1. चिंतामणि - भाग (1) - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 169
2. वही
3. रसमीमांसा - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 225

शुक्लजी एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना काव्य कर्म मानते हैं ।[1] इसके लिए दो बातें अपेक्षित हैं - एक, काव्यगत अनुभव में निर्वैयक्तिकता और तटस्थता, दूसरा, प्रेषण के लिए उपयुक्त भाषा-कौशल ।[2] इस तरह संप्रेषण में, अनुभूति का प्रथम स्थान है, और दूसरी श्रेणी में भाषा आती है, जिसके द्वारा संप्रेषण कार्य संपन्न होता है । अतः प्रेषणीयता और साधारणीकरण एक दूसरे पर निर्भर है ।

रिचर्ड्स , सर्जना का लक्ष्य संप्रेषण मानते हैं । संप्रेषण का संबंध वे भाव या अनुभूति से मानते हैं । प्रेषणीयता की स्थिति में विभिन्न मस्तिष्क प्रायः एक जैसी अनुभूति अनुभव करते हैं ।[3] कला द्वारा प्रेषित अनुभूति को वे "सामान्यीकृत अनुभूति" कहते हैं ।[4] संप्रेषण के संयक् निर्वाह के लिए लेखकीय मानसिकता और पाठकीय मानसिकता में एकरूपता होना आवश्यक है । रिचर्ड्स संप्रेषण की सफलता के लिए अतीत अनुभवों की सुलभता तथा उनके पुनः प्रस्तुतीकरण को भी आवश्यक मानते हैं ।[5]

---

1. रसमीमांसा - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 122
2. रसमीमांसा - पृ. 122
3. Principles of Literary Criticism- I.A.RichardsP.No.146
4. Ibid P.No. 151,154, 178.
5. Ibid P.No. 140,148

पाश्चात्य और भारतीय साहित्य में काव्यानन्द, संप्रेषण की सफलता पर अधिष्ठित है । पाठक सही संप्रेषण के द्वारा, काव्यानुभव का आस्वादन करता है । शुक्लजी और रिचर्ड्स, सर्जना का ध्येय संप्रेषण मानते हैं । शुक्लजी का "साधारणीकरण" सिद्धांत, रिचर्ड्स के संप्रेषण-सिद्धांत के नज़दीक है । दोनों संप्रेषण का संबंध कलात्मक भाव या अनुभूति से मानते हैं । दोनों के अनुसार, सर्जक की अनुभूतियों का भावक द्वारा अनुभूत करना ही प्रेषणीयता है । शुक्लजी जिसे अनुभूति का व्यक्तिगत स्वार्थ-संबंधों से मुक्त होकर लोकसामान्य भावभूमि पर पहुँचना कहते हैं, वही एक हद तक रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित अनुभूति का सामान्यीकरण है । रिचर्ड्स अतीत अनुभवों की सुलभता को संप्रेषण के लिए आवश्यक मानते हैं । शुक्लजी भी स्मृत रूप-विधान की चर्चा में विशुद्ध स्मृति के अंतर्गत अतीत जीवन के स्मरणों का उल्लेख करते हैं । शुक्लजी का अपना यही मत है कि काव्य में सहृदय कवि या किसी व्यक्ति विशेष के भाव का आस्वाद नहीं करता है, वह "सब" के भाव का आस्वाद करता है । "सब" से उनका तात्पर्य "लोक" से है । अतः लोककल्याण ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है । हम जानते हैं कि शुक्लजी ने तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया है । अपनी समस्त समीक्षाओं में वे यह स्थापित करते हैं कि लोकमंगल की भावना ही तुलसी-काव्य का केन्द्रबिन्दु है । काव्य-व्यापार को सर्वोत्कृष्ट संप्रेषण माननेवाला रिचर्ड्स का सिद्धांत भी तत्वतः यही है ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनों कलाकार की सामाजिक प्रतिबद्धता को माननेवाले हैं । रिचर्ड्स संप्रेषण को अधिक विस्तार से परिभाषित कर इसके प्रत्येक पक्ष का सूक्ष्म निरीक्षण किया, शुक्लजी उतने विस्तार में नहीं जाते । उनकी दृष्टि में रसदशा में पहुँचना ही काव्य की सफलता है । अत: वे साधारणीकरण का विस्तृत विवेचन करते हैं ।

कला जीवन के लिए

कला के उद्देश्य के संबंध में दो मत प्रचलित हैं - "कला कला के लिए" और "कला जीवन के लिए" । कलावादियों की दृष्टि में "कला का अस्तित्व स्वयं में पूर्ण है । वह स्वयं निर्माण है । समाज का अनुभव किसी सार्थक अनुभूति का निर्वाह नहीं कर पाता । कला अपने में एक पूर्ण स्वतंत्र संसार है ।"[1] काव्यानुभूति का आंतरिक मूल्य ही उसका काव्यात्मक मूल्य है । कविता धर्म और संस्कृति का साधन है ।

---

1. First, the experience is an end itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value --- Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion, because it conveys instruction, or softens passions, or furthers a good cause, because it brings the Poet, fame, or money, or a quiet conscience- Ref - Oxford Lectures on Poeetry - A.C.Bradley - P- No-5, Quoted in 'Principles of Literary Criticism' - I.A.Richards P. No.56.

वह कवि को यश, द्रव्य या शांति प्रदान कर देती है । इन्हीं कारणों के आधार पर वे कला का मूल्य -निर्धारण करते हैं । "कला जीवन के लिए" माननेवालों के अनुसार कला का मानव-जीवन से अलग अस्तित्व नहीं ।

शुक्लजी "कला कला के लिए" सिद्धांत का घोर विरोध करते हैं । उनके अनुसार काव्य या कला मानवजीवन से संबद्ध है । वे काव्य को मानव-जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालनेवाली वस्तु मानते हैं । उनके विचार में "कला कला के लिए" वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए । एक का कई कोचे उसे फिर जिला नहीं सकते । काव्यानुभूति, जीवन क्षेत्र में संचित अनुभूतियों का ही रसात्मक रूप है ।"[1] वे जीवन और जगत् से परे किसी अलौकिक क्षेत्र में काव्य की साधना के लिए कोई गुंजाइश नहीं समझते ।

कविता का लक्ष्य, हल्के स्तर का मनबहलाव माननेवालों से शुक्लजी का गहरा मतभेद है । उनके अनुसार यह धारणा, काव्य के गौरव को कम कर देना मात्र है ।[2] वे कहते हैं "मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनंद पहुँचना ही यदि कविता का लक्ष्य मान जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई ।"[3] वे कविता का अंतिम लक्ष्य, जगत्

---

1. चिंतामणि -भाग 2 -रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 184
2. चिंतामणि - भाग 1 -रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 111
2. वही - पृ. 112

के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके, उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य करना मानते हैं । इस प्रकार काव्य, व्यक्ति को स्वार्थ के समूह से ऊपर उठाकर उसे लोक की भावभूमि पर ला बिठाता है ।[1]

रिचर्ड्स काव्य और कला के संबंध में प्रचलित नाना अर्थवादों का पूरा निराकरण गंभीर और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पद्धति से करते हैं । वे ब्रैडले की कला संबंधी सभी बातों की अलग अलग परीक्षा करके उनकी अर्थहीनता और अपूर्णता प्रतिपादित करते हैं ।[2]

रिचर्ड्स जीवन और जगत् के नाना पक्षों से काव्यानुभूति का संबंध विच्छेद नहीं मानते ।[3] मैथ्यू आर्नल्ड की तरह वे भी काव्य को जीवन की आलोचना मानने के पक्षधर हैं ।[4] कला की सुखवादी धारणा उन्हें

---

1. कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मंडलों से ऊपर उठाकर "लोकसामान्य भावभूमि" पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है ।..... इसे अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकार का परिष्कार तथा शेष-सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा व निर्वाह होता है । चिन्तामणि -भाग§।§ - पृ. 97
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 3
3. Principles of Literary Criticism I.A.Richards P.No.78-79.
4. Ibid P.

स्वीकार्य नहीं । आनंद को मुख्य लक्ष्य के रूप में रखना वे अवधान की गलती समझते हैं ।[1] उनकी दृष्टि में, आनंद, क्रिया को ग्रहण करने का एक उपकरण मात्र है । प्रत्येक क्रिया का एक विशिष्ट लक्ष्य होता है । लेकिन आनंद क्रिया का लक्ष्य नहीं । रिचर्ड्स आनंद को क्रिया की सफलता का सूचना-चिह्न मानते हैं ।[2] वे काव्य का उद्देश्य, मन की वृत्तियों अथवा अन्त प्रेरणाओं को संगठित करके सामंजस्य स्थापित करना मानते हैं । उनकी नज़र में मानव-संवेदनाओं का न्यूनातिन्यून दमन करते हुए समीकरण करना कविता

---

1. But on the view of plesure, which we have indicated above, it is clear that all those doctrines, very common in critical literature, which set up pleasure as the goal of activity, are mistaken - Principles of Literary Criticism.I.A.Richards -P.No. 73.

2. Every activity has its own specific goal. Pleasure very probably ensues in most cases, when this goal is reached, but that is a different matter - Ibid - P. No. 73.

का लक्ष्य है ।[1]

शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनों कलावादी सिद्धांत पर प्रहार करके, कला को जीवन की सापेक्षता में खडा कर देते हैं । दोनों, कला को जीवन से प्रेरित एवं जीवन के लिए मानते हैं । कला या काव्य की अनुभूति जीवन के बाहर की अनुभूति है । यह मत दोनों को मान्य नहीं । दोनों समीक्षक स्वीकार करते हैं कि जीवन से कटकर, कला अल्पायु एवं निरर्थक हो जाती है । दोनों कला को समाज के अनुभवों से निर्मित एवं विकसित मानते हैं । शुद्ध कलावाद का खंडन दोनों एकस्वर में करते हैं और कला का संबंध जीवनगत अनुभूति से जोडते हैं ।

---

1. The most valuable states of mind, then are those which involve the widest and most comprehensive Co-ordination of activities and the least curtailment, conflict, starvation and restriction. --- The artist is concerned with the record and perpetuation of the experiences which seem to him most worth having.--- His experiences, those at least which give value to his work, represent conciliations of impulses which in most minds are still confused, intertrammelled and conflicting. His work is the ordering of what in most minds is disordered. Priciples of Literary Criticism P.No. 45-46.

शुक्लजी और रिचर्ड्स, आनंद को काव्य या कला का अंतिम उद्देश्य नहीं मानते । शुक्लजी आनंद को मुक्तावस्था मानते हैं । लेकिन रिचर्ड्स उसे एक स्वतंत्र मानसिक अवस्था न मानकर, प्रतिक्रिया मानते हैं । उनके मत में, मानसिक वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करने की सफलता का परिणाम है आनंद । मानसिक वृत्तियों के संतुलन एवं सामंजस्य से मानव-दुर्बलताएँ समाप्त होती है । अंर्तवृत्तियों का यही सामंजस्य ही शुक्लजी का भावयोग है । यही हृदय की मुक्तावस्था या रस-दशा है ।

शुक्लजी और रिचर्ड्स के तथ्य-निरूपण की अपनी अपनी पद्धतियाँ हैं । दोनों के मूल्यांकन की कसौटी संवेदनाओं या मनोभावों का परिष्कार और उनका सामंजस्य है । रिचर्ड्स व्यक्ति के आंतरिक एषणाओं के ~~बीच~~ व्यवस्थापन और सामंजस्य पर अधिक बल देते हैं, परंतु शुक्लजी शेष-सृष्टि के साथ भावों के सामंजस्य पर ज़ोर देते हैं । वे भारतीय दर्शन का आश्रय लेकर, रस-दशा का आत्मविलय से एकीकरण कर देते हैं । लेकिन रिचर्ड्स, शुक्लजी से भी एक कदम आगे बढकर मनोवैज्ञानिक धरातल पर अपना अध्ययन प्रस्तुत करते हैं ।

काव्य में सौंदर्य

काव्य - विवेचन के संदर्भ में सौंदर्य पक्ष का अपना महत्व है । सौंदर्य-चेतना मनुष्य की समस्त चेतना का ही एक अंग है । सौंदर्य

के संबंध में शुक्लजी और रिचर्ड्स की मान्यताएँ स्वतंत्र हैं ।

शुक्लजी सौंदर्य को वस्तुगत मानते हैं । उनका कथन है - "सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं, मन के भीतर की ही वस्तु है ।..... जैसे वीरकर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं ।"[1] सौंदर्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने अन्यत्र लिखा है - "जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वस्तु हमारे लिए सुंदर कही जायेगी । इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर बाहर का भेद व्यर्थ है । जो भीतर है वही बाहर है ।"[2] सौंदर्य-भावना की पूर्णता के लिए वे रूप-सौंदर्य के साथ शील-सौंदर्य को भी आवश्यक मानते हैं ।[3]

शुक्लजी सौंदर्य को मंगल का पर्याय मानते हैं ।[4] रूप-रंग में ही नहीं, मन, वचन और कर्म सब में वे सौंदर्य देखते हैं । ब्रह्म की व्यक्त सत्ता में सुन्दर और असुन्दर पक्षों के द्वन्द्व में वे सौंदर्य की वास्तविक

---

1. रसमीमांसा - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 24
2. चिन्तामणि - भाग १।१ - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 165
3. वही - पृ. 233
4. जो धर्म में शिव है, वही काव्य में सुन्दर है ।

अभिव्यक्ति देखते हैं । आगे वे लिखते हैं - "काव्य कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है ।"[1]

रिचर्ड्स हमारे आवेगों को उद्बुद्ध करने की क्षमता को सौंदर्य मानते हैं ।[2] विरोधी आवेगों के संतुलन एवं सामंजस्य से युक्त अखंड मानसिक स्थिति को वे सौंदर्य की संज्ञा देते हैं । इस मानसिक अवस्था को वे "साइनेस्थसिस" कहते हैं । इसे वे सौंदर्यानुभूति की मूल विशेषता मानते हैं ।

शुक्लजी और रिचर्ड्स की सौंदर्यवादी अवधारणा पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्लजी की दृष्टि रिचर्ड्स की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं गहरी हैं । शुक्लजी की सौंदर्य संबंधी धारणा, भारतीय और पाश्चात्य धारणाओं का सामंजस्य है । सौंदर्य की व्याख्या करते हुए वे पाश्चात्य मनोविज्ञान एवं समीक्षा में स्वीकृत भावतादात्म्य

---

1. चिन्तामणि - भाग (1) - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 216

2. Beautiful is anything which excites our emotions - The Foundations of Aesthetics - I.A.Richards- P.No.75.

(empathy) को भी स्वीकार करते हैं । रिचर्ड्स भावतादात्म्य को केवल सौंदर्यानुभूति का विषय नहीं मानते । वे सौंदर्यानुभूति का आधार, "साईनेस्थसिस" को मानते हैं ।

काव्य में कल्पना

काव्य का सत्य, कल्पना का सत्य है । कल्पना, अनुभूति को व्यवस्थित कर देती है । भारतीय और पाश्चात्य विचारकों ने कल्पना के महत्व को स्वीकार किया है ।

शुक्लजी कवि की अनुभूति को पाठकों तक पहुँचाने में, कल्पना की आवश्यकता स्वीकार करते हैं । वे कल्पना को मानसिक रूप-विधान मानते हैं ।[1] काव्य की पूर्ण अनुभूति के लिए वे कवि और आस्वादक दोनों के लिए कल्पना को अनिवार्य मानते हैं । काव्य के अंतर्गत भावों की सक्षम अवधारणा के लिए कल्पना अनिवार्य है ।

---

1. चिन्तामणि - भाग (1) - पृ. 241

रिचर्ड्स मानते हैं कि दो अनमेल या विरोधी भावों में संतुलन लाना कल्पना का मुख्य कार्य है ।[1] कल्पना, कवि या कलाकार के आवेगों को व्यवस्थित कर देती है ।

दोनों समीक्षकों के अनुसार कल्पना काव्य की अनुभूति या भाव की सहयोगिनी है । भावों के प्रवर्तन के लिए कल्पना की आवश्यकता दोनों को स्वीकार्य है । मगर शुक्लजी की अपेक्षा, रिचर्ड्स का कल्पना-संबंधी विवेचन, अधिक मनोवैज्ञानिक तथा व्यापक प्रतीत होता है ।

काव्य में बिंब

किसी भी काव्य-कृति के सौंदर्यात्मक विश्लेषण के लिए उसमें प्रयुक्त बिंबों और प्रतीकों का विश्लेषण आवश्यक है । आचार्य शुक्ल बिंब-विधान को अधिक महत्व देते हुए भी, उसे भावपक्ष की अपेक्षा गौण मानते हैं ।[2] वे काव्य के अंतर्गत पाठक या श्रोता के मन में भावों को जगाने में समर्थ कल्पना की रूपयोजना को स्वीकार करते हैं ।[3] अतः उनके अनुसार

---

1. Principles of Literary Criticism - I.A.Richards-P.No.190-193.
2. जायसी ग्रंथावली की भूमिका - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 111
3. रसमीमांसा - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 303-304

भाव को उत्तेजित करना ही बिंब का कार्य है । वे लिखते हैं कि काव्य का कार्य अर्थ ग्रहण करना नहीं, बिंब-ग्रहण करना है ।[1]

रिचर्ड्स के अनुसार बिंब-विधान में विचारों को प्रभावित करने की शक्ति निहित है । वे बिंब को काव्य का साधन ही मानते हैं । कविता का साध्य तो अनुभूति है जिसका संप्रेषण बिंबों के माध्यम से सहजतापूर्वक घटित हो जाता है ।[2]

काव्य में रूप-विधान या बिंब-सृष्टि के विषय में शुक्लजी और रिचर्ड्स के विचारों में समानता है । दोनों भाव या विचारों को प्रभावित करना बिंब का उद्देश्य मानते हैं ; रूपयोजना को साधन और भावोद्दीपन को साध्य मानते हैं ।

काव्य में नैतिकता

शुक्लजी की मूल्यवादी धारणा का संबंध नीति-तत्व से है । उनकी नैतिकता लोकमंगल की भावना है । लोकमंगल से युक्त काव्य

---

1. चिन्तामणि - भाग 1 - पृ. 100

2. Principles of Literatry Criticism - I.A.Richards - P.No. 239.

को वे श्रेष्ठ काव्य मानते हैं । सदाचार -विहीन काव्य को वे स्वीकृति नहीं देते । उनके अनुसार कलावाद से प्रेरित "कविता कविता के लिए" सिद्धांत, कला का नैतिकता से संबंध स्वीकार नहीं करते ।[1]

रिचर्ड्स मूल्यवादी समीक्षक है । उनकी मूल्य-संबंधी धारणाओं का संबंध नीति-तत्व से है । कला का नैतिकता से संबंध-विच्छेद करना, वे दुर्भाग्य का विषय मानते हैं ।[2] उनकी दृष्टि में नैतिकता की अवहेलना, अक्षम्य अपराध है ।

शुक्लजी और रिचर्ड्स काव्य में नैतिकता के समर्थक हैं । ~~नैतिकता के समर्थक हैं~~ । नैतिकता के प्रकरण में कलावादी सिद्धांतों का खंडन करके कला और नीति के अनिवार्य संबंध की प्रतिष्ठा करना दोनों आवश्यक मानते हैं ।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 542

2. The common avoidance of all discussion of the wider social and moral aspects of the arts by people of steady judgement and strong heads is a misfortune, for it leaves the field free for folly, and cramps the scope of good critics unduly - Principles of Literary Criticism - I.A.Richards - P. No.25.

आलोचना की भाषा

भाषा मनुष्य की अर्जित संपत्ति है । यह सर्जक के अनुभव और ज्ञान का साधन है । आलोचना की भाषा के स्वरूप पर शुक्लजी और रिचर्ड्स अपने अपने ढंग से विचार करते हैं । रिचर्ड्स आलोचना की भाषा के वैज्ञानिक स्वरूप पर ज़ोर देते हैं । उनकी दृष्टि में आलोचना की भाषा, स्पष्ट, तरल और ग्राह्य होनी चाहिए । शुक्लजी भी आलोचना में स्तुतिपरक तथा भावव्यंजक शब्दों के पक्षपाती नहीं है । उनके शब्दों में "इस प्रकार के केवल भावव्यंजक और स्तुतिपरक शब्दों को समीक्षा के क्षेत्र में घसीटकर अनेक प्रकार के अर्थशून्य वागाडंबर खडे किये गये थे ।"[1]

शुक्लजी और रिचर्ड्स विभिन्न विषयों के अध्येता, मेधावी समीक्षक थे । उनकी विद्वत्ता के अनुसार उनकी भाषा में बौद्धिकता और गांभीर्य पाया जाता है । शुक्लजी हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू के अच्छे विद्वान थे । अपने सिद्धांतों के समर्थन में इन सभी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग वे करते हैं । "चिंतामणि" तथा "रस-मीमांसा" में प्रयुक्त संस्कृत के भाव, रस, कल्पना, भावदशा आदि शब्द, अरबी-फारसी के सलाम, हाकिम, मिजाज, आफ़त, नौबत आदि शब्द, फालतू, चोंगा, आसरा आदि देशज शब्द इसके उत्तम प्रमाण हैं । इसके अलावा इनमें अनेक प्रयुक्त अर्थगर्भित

---

1. रसमीमांसा - रामचन्द्रशुक्ल - पृ. 269

सूक्तियाँ, समानार्थ शब्द, पारिभाषिक शब्दावली, आदि उनके भाषा-वैदग्ध्य के परिचायक हैं । उनकी भाषा में रसवादी संस्पर्श बार-बार मिलता है । रिचर्ड्स की भाषा में वैज्ञानिक संस्कार अधिक हैं । उनके समीक्षात्मक ग्रंथों में "साईनेस्थसिस", "सिंथसिस", "एक्सक्लूशन", "इन्क्लूशन" जैसे अनेक वैज्ञानिक पदावलियों का काफी प्रयोग मिलता हैं । भाषा के गांभीर्य एवं कठिनता के कारण, कभी कभी पाठक उसे आसानी से ग्रहण न कर सकते हैं । पर शुक्लजी की भाषा, पाठक की मानसिकता को उत्तेजित करने में सक्षम है ।

शैली

शुक्लजी और रिचर्ड्स की आलोचना-शैली में, उनके व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण के अनुसार समता-असमता है । दोनों की शैली विश्लेषणात्मक, विचारप्रधान एवं गंभीर है । फिर भी शुक्लजी की शैली शास्त्रीय हैं और रिचर्ड्स की शैली अधिक नवीन एवं वैज्ञानिक है ।

समीक्षात्मक दृष्टिकोण

शुक्लजी और रिचर्ड्स के समीक्षात्मक दृष्टिकोण में भी साम्य-वैषम्य पाये जाते हैं । शुक्लजी का दृष्टिकोण नैतिक एवं आदर्शात्मक है । उनका आदर्श राम का आदर्श है, लोकरक्षक का आदर्श है । वे

मर्यादावादी हैं, उनकी समीक्षा का मानदंड मानव-मंगल है । वे स्वच्छन्द चिंतक थे । उनकी समीक्षा का केन्द्र व्यक्ति और समाज है । उनकी रस-निष्पत्ति का मूल-स्रोत भारतीय काव्य-शास्त्र है, पर उसके विश्लेषण एवं विवेचन का आधार मनोविज्ञान है ।

रिचर्ड्स एक सच्चे वैज्ञानिक अन्वेषक हैं । उनकी समीक्षा अधिकतर सैद्धांतिक है । मनोविज्ञान के साथ साथ अन्य संप्रदायों से भी प्रेरणा ग्रहण करने के कारण उनकी दृष्टि अधिक व्यापक एवं वैज्ञानिक है ।

रिचर्ड्स कवि के अनुभूति-पक्ष का अधिक निरूपण करते हैं । पर शुक्लजी अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों पक्षों को प्रधानता देते हैं । डॉ. नगेन्द्र के अनुसार शुक्लजी की अपेक्षा रिचर्ड्स में सूक्ष्मता, व्यापकता और मौलिकता है । लेकिन शुक्लजी अपने विवेक एवं गांभीर्य से इस अभाव को पूरा करते हैं । उनकी आलोचना में हमारे विश्वास को पकडने की क्षमता अधिक है ।[1]

निष्कर्ष

शुक्लजी और रिचर्ड्स अपनी अपनी भाषा के सर्वश्रेष्ठ समीक्षकों में हैं । परंपरा, इतिहास और दर्शन के प्रति जागरूक रहने के कारण

---

1. कृतिकार - डॉ. नगेन्द्र - पृ. 163

साहित्य के सामान्य धर्मों के संबंध में अपने विचारों का प्रतिपादन, दोनों अपने अपने ढंग से करते हैं । दोनों समीक्षकों की विश्लेषणात्मक समीक्षा-प्रणाली में काफी साम्य है । शुक्लजी काव्य या साहित्य को मानस-व्यापार मानते हैं । काव्य-विवेचना के लिए मनोमय कोश के बाहर जाने की इच्छा वे नहीं करते । मन का राग-द्वेष के बंधन से छूटकर शुद्ध भाव की अनुभूति में लीन होना, वे काव्यानुभूति की विशेषता समझते हैं । रिचर्ड्स की धारणाएँ भी बहुत भिन्न नहीं । वे परस्पर विरुद्ध आवेगोंके सामंजस्य से उत्पन्न अखंड मनःस्थिति की प्राप्ति में, काव्य की विशेषता देखते हैं । दोनों काव्य की अलौकिकता का निषेध एकस्वर में करते हैं । शुक्लजी और रिचर्ड्स की दृष्टि में सर्जना का ध्येय संप्रेषण है । शुक्लजी साहित्य तथा अन्य कलाओं की सफलता उसकी समाज-सापेक्षता में मानते हैं । रिचर्ड्स के मत में साहित्य की सफलता, उसकी संप्रेषणीयता में निहित है । तात्त्विक दृष्टि से दोनों के दृष्टिकोण में अधिक समानता है । शुक्लजी मनोभावों का विश्लेषण, काव्यास्वादन में आवश्यक मानते हैं । रिचर्ड्स की दृष्टि में, साहित्य की रसात्मकता मनोवेगों की गतिविधि पर अधिष्ठित है । दोनों कलावादी सिद्धांतों का खंडन करके बाह्य-जीवन से साहित्य का अटूट संबंध स्वीकार करते हैं ।

शुक्लजी और रिचर्ड्स दोनों साहित्य का रसास्वादन मौलिक स्तर पर करते हैं । शुक्लजी प्रगल्भ कवियों की कविताओं का विश्लेषण करके उनकी प्रतिष्ठा करते हैं । लोकमंगल की भावना से संपृक्त

रहने के कारण उनकी समीक्षात्मक दृष्टि विस्तृत, व्यापक एवं गहरी बन गयी है । शुक्लजी किसी भी पाश्चात्यवाद के पूर्णतः पक्षधर नहीं हैं । पाश्चात्य मान्यताओं को भी वे भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अनुरूप ग्रहण करते हैं । अपनी लोकनिष्ठ जीवन - दृष्टि के अनुरूप इस विशाल जगत के साथ भावात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह में वे साहित्य के अध्ययन की सार्थकता सिद्ध करते हैं । रिचर्ड्स का दृष्टिकोण अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है । इसका कारण संभवतः पश्चिमी वैज्ञानिक दृष्टि का उन पर प्रभाव है । भारतीय संस्कृति और विचारधारा के निरन्तर प्रभाव में निमग्न रहे हैं शुक्लजी । पर रिचर्ड्स, पश्चिमी वस्तुवादी दृष्टिकोण के समर्थन में अनवरत संलग्न ।

शुक्लजी और रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांतों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इनके सिद्धांत अपने में मौलिक हैं । मूल सिद्धांत-निरूपण में दोनों में अद्भुतजनक साम्य है, पर प्रतिपादन शैली में पर्याप्त अंतर है । दोनों अपनी अपनी भाषा के सर्वश्रेष्ठ समीक्षक हैं । कला एवं समीक्षा संबंधी अपने विचारों का प्रतिपादन दोनों समीक्षकों ने अपने अपने ढंग से किया है । अतः निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि शुक्लजी और रिचर्ड्स की समीक्षात्मक दृष्टि बहुत कुछ समान हैं, जो अंतर विद्यमान है उसका हेतु है, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की भिन्नता ।

उपसंहार

उपसंहार

कला-सृष्टि तथा कलास्वादन की व्याख्या हमेशा मनोरहस्य से शुरू होती है । नयी मनोवैज्ञानिक दृष्टि साहित्यास्वादन संबंधी निगूढताओं का अनावरण करने में काफी सफल बन गयी है । साहित्य मन की सृष्टि है । उसमें व्यष्टि और समष्टि का समन्वित सान्निध्य है । अतः साहित्य का अध्ययन सर्जक के मन का अध्ययन है, और साहित्य का रसास्वादन करते हुए बृहत्तर समाज का भी मूल्यांकन करना समीक्षा का उद्देश्य है । स्रष्टा के दृष्टिकोण को आत्मसात करने के लिए मन तथा बाह्य-जीवन के विकास-परिणाम के अध्ययन में सहायक सभी तथ्यों की जानकारी ज़रूरी है । समीक्षक मनोविज्ञान के सहारे सर्जक के बाह्य एवं आंतरिक कार्य-व्यापारों को गहराई से सोचने-समझने का प्रयत्न करता है । वह मानव-मन की तह में पैठकर उसकी छानबीन करने में आमग्न होता है ।

काव्यालोचन संबंधी पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण मनोविज्ञान पर अवलंबित है । मानव का व्यवहार, उसकी सहज -वृत्तियों के द्वारा नियंत्रित होता है । मानव-मन की परस्पर-विरोधी वृत्तियों के सामंजस्य से उत्पन्न संतुलित मानसिक-अवस्था की उपलब्धी, साहित्य का चरम लक्ष्य माना गया है । भारत में रसानुभूति की व्याख्या तथा विश्लेषण पूर्ण रूप से मनोविज्ञान पर अधिष्ठित है । मनुष्य के मन में वासना के रूप में

स्थित सुषुप्त भावों को उद्‌बुद्ध करना, अभिव्यक्त करना, उसे ममत्व से ममेतर तक पहुँचाकर साधारणीकृत करना आदि तत्वों का समन्वय करते हुए रस-सिद्धांत का आविष्कार किया गया । यह भारतीय आलोचकों की उत्कृष्टतम मनोवैज्ञानिक उपलब्धि है । इसका खंडन-मंडन एवं विस्तृत व्याख्या करने का प्रयास अवश्य हुआ है, परन्तु इसका निराकरण किसी ने नहीं किया । सौंदर्यानुभूति के संबंध में पाश्चात्यों का मत इससे मिलता जुलता है । पश्चिम में सबसे पहले यूनान में सामाजिक पृष्ठभूमि में साहित्य पर चिंतन-मनन हुआ । अरस्तू का "विरेचन-सिद्धांत" पाश्चात्यों के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का आदि-रूप है । अरस्तू ने भय, करुणा जैसे दो परस्पर विरुद्ध मनोविकारों के विरेचन से प्राप्त हृदय की विशुद्धि की प्रक्रिया को त्रासदी का सबसे बडा प्रयोजन एवं लक्ष्य सिद्ध किया । कलास्वादन में व्यक्तित्व के संपूर्ण विलयन की बात भारतीय और पाश्चात्य साहित्यकारों को स्वीकार्य है । पर इसका समर्थन सभी ने अपनी स्वतंत्र मान्यताओं के अनुरूप किया है । नई कविता के संदर्भ में इस बात पर ज़ोर दिया गया कि काव्य द्वारा रसानुभूति नहीं सह-अनुभूति होती है । वस्तुतः यह सह-अनुभूति एक अर्थ में निर्वैयक्तिकरण या अहं के विलय के समकक्ष है । अज्ञेय के अनुसार "काव्य - रचना का -किसी भी कला - सृष्टि का अधिकार तभी प्रारंभ होता है जब व्यक्तित्व का संपूर्ण विलयन हो जाय..... कविता द्वारा कवि व्यक्ति को बृहत्तर इकाई में विलीन कर देता है ।" टी.एस.इलियट से ही यह सिद्धांत अज्ञेय ने स्वीकार किया । टी.एस.इलियट ने काव्य-सर्जन में कलाकार के आत्म-त्याग एवं व्यक्तित्व के विलय को स्वीकार किया है । उनके शब्दों में - "द प्रोग्रस

ऑफ आन आरटिस्ट इस ए कंटिन्युपल एक्स्टिनग्युल ऑफ पेरसनालिटि ।" मिल्टन ने अपनें "साम्सन् अगोनिस्टस" नामक नाट्य-काव्य में त्रासदी की चर्चा के दौरान कहा है - "काम ऑफ माइन्ड, ओल पाशनृस स्पेन्ट" - अर्थात "विकारों का बहिष्कार, मन की शांति" । अस्तित्ववादियों की मान्यता यह है कि मृत्यु के साक्षात्कार के समय जीवन की जो तीव्रतम अनुभूति जाग उठती है, वही प्रेषणीय बनकर कविता का रूप धारण कर लेती है । इसी अनुभूति में अनुभावक का संपूर्ण व्यक्तित्व अपने निजी संवेगों को मानवीय-स्तर के भावों में परिणत करता है । संक्षेप में सभी आलोचकों की सौंदर्यवादी अवधारणा इस विशुद्धि की प्रक्रिया या संतुलित मानसिक अवस्था की उपलब्धि पर आधारित है ।

रामचन्द्र शुक्ल के रस-सिद्धांत की मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा ऐ.ए. रिचर्ड्स की सौंदर्यानुभूति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इसी का परिष्कृत, परिमार्जित एवं वैज्ञानिक रूप है । शुक्लजी ने "हृदय की मुक्तावस्था" को रसदशा बताया । यह मुक्तावस्था साधारणीकरण द्वारा प्राप्त होती है जहाँ सहृदय अपनी पृथक सत्ता की भावना का परित्याग करके कवि के भावों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है । कलाकार के व्यक्तित्व और तज्जनित भावों के अंतर्द्वन्द्व से कलाकृति का निर्माण होता है । रिचर्ड्स ने काव्य की संप्रेषणीयता के प्रसंग में कलाकार की साधारणता पर विस्तार से विचार किया है । उन्होंने स्वीकार किया है कि कलाकार कला द्वारा अपने क्षणिक, अजनबी और व्यक्तिगत भावों को दबाकर एक महत्तर व्यक्तित्व को पाने की चेष्टा करते हैं ।

भारत और पश्चिम में शुक्लजी और रिचर्ड्स को छोडकर आधुनिक समीक्षा का अध्ययन असंभव है । इनकी समालोचक दृष्टि कालातीत है । शुक्लजी समन्वयवादी आलोचक हैं । उनके व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण के निर्माण में भारतीय रस-सिद्धांत, पश्चिमी काव्य-शास्त्र, दर्शन, साहित्य, अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि का गहरा प्रभाव पडा है । लेकिन किसी भी भारतीय या पाश्चात्य परंपरा का अंधाधुंध अनुकरण उन्होंने नहीं किया है । सभी सिद्धांतों को उन्होंने अपनी स्वतंत्र मान्यताओं के अनुरूप स्वीकार किया है । वस्तुतः उन्होंने प्राचीन और नवीन, पाश्चात्य और पौरस्त्य सिद्धांतों का संग्रह किया है । अपनी स्थापनाओं के समर्थन में एक ओर उन्होंने तुलसी के मर्यादावाद का समर्थन किया हैं तो दूसरी ओर पश्चिम के विकासवाद, मनोविज्ञान, नीतिवाद आदि का भी आश्रय लिया हैं । उन्होंने युग की माँग के अनुरूप प्राचीन रूढ़िवाद और पश्चिमी कलावाद से मुक्त एक नवीन हिन्दी साहित्य-शास्त्र का निर्माण किया । अपनी असामान्य प्रतिभा एवं नूतन उन्मेष से उन्होंने हिन्दी साहित्य में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किया । उनका समग्र चिंतन समाज-कल्याण पर आधारित है । कवियों का श्रेष्ठता का मूल्यांकन भी उन्होंने लोकधर्म के दायरे में पडकर किया हैं । सूर, तुलसी, जायसी, जैसे प्रगल्भ कवियों की महान कृतियों की सर्वांगीण व्याख्या करके उनकी तुलना का भी स्तुत्य कार्य उन्होंने किया । इन कवियों की भाव-संपत्ति, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से उनका संबंध, उनकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ आदि विषयों का उन्होंने विस्तार से विश्लेषण किया । शुक्लजी की समीक्षा-संबंधी मान्यताओं में उनकी कुछ व्यक्तिगत रुचियों का समावेश हुआ है । मुक्तक काव्य की अपेक्षा जीवन और जगत् के नाना पक्षों के चित्रण से

युक्त प्रबंध काव्य की सराहना उन्होंने अधिक की । समष्टि, पूर्णता और व्यापकता के समर्थक होने के कारण, तुलसीदास उनकी दृष्टि में आदर्श-कवि बन गये । तुलसी में शीलदशा, सूर में रस-दशा और जायसी में भावदशा की प्रमुखता दिखाकर इन्हीं के माध्यम से उन्होंने अपना निर्णय प्रस्तुत किया । नवीनोद्भावना और भावगांभीर्य से संपन्न सूर का कृतित्व, जायसी की अपेक्षा उन्हें अधिक श्रेष्ठ लगा । रस-संचार की दृष्टि से एक प्रबंधकार के नाते उनकी दृष्टि में तुलसी महान रहे । चित्रात्मकता की भरमार के कारण कबीर के रहस्यवाद की अपेक्षा जायसी का रहस्यवाद उन्हें अधिक स्वीकार हुआ । भावों की सच्चाई और उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति के कारण रीतिकालीन कवियों में घनानंद, शुक्लजी की विशेष श्रद्धा के पात्र बन गये । ठाकुर, द्विजदेव, बोधा जैसे कवियों की महत्ता को स्वीकार करने के साथ साथ बिहारी की ऊहात्मक पद्धति का उपहास उन्होंने किया । उन्होंने अपनी वैयक्तिक मान्यताओं के अनुसार केशवदास, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, कबीरदास आदि के प्रति उपेक्षा-भाव भी दिखाया है । जहाँ छायावादी कवियों ने रहस्यवाद और निराशावाद से पृथक रहकर यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति की है, वहाँ उन्होंने उनकी खूब प्रशंसा की है । इसप्रकार शुक्लजी ने अपने सिद्धांतों का प्रयोग एवं समर्थन अपनी रचनाओं में किया । व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उनका विचार नवीन एवं मौलिक था ।

शुक्लजी के विचारों का परवर्ती समीक्षा पर जितना प्रभाव पडा है उतना और किसी समीक्षक का नहीं । वस्तुतः जिसे हम भौतिकवादी समीक्षा कहते हैं, वह उनके लोकमंगल सिद्धांत का दूसरा नाम मात्र है ।

अंतर सिर्फ यह है कि भौतिकवादी मानव-जीवन और उसका प्रतिबिंब जिसे हम साहित्य कहते हैं, आत्यंतिक अर्थ में पदार्थाधिष्ठित मानते हैं, पर शुक्लजी का विचार इससे भिन्न है । वे जीवन को भौतिक सत्य मानते हुए भी उसके आध्यात्मिक अथवा भावाधिष्ठित स्वरूप को स्वीकार करते हैं । वे व्यक्ति को महान सत्य स्वीकार करते हैं । व्यक्ति पर रस का व्यापार केन्द्रित है । पर व्यक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा सत्य नहीं, ऐसा वे नहीं मानते । यही साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में उनकी महत्वपूर्ण देन है । शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य की विकसित भावधारा और विचारधारा को समग्रता में देखा । भाषा के व्यापक-सर्जनात्मक स्वरूप के सहारे उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति की । वे सचमुच आधुनिक हिन्दी समीक्षा के पर्याय हैं ।

भारतीय काव्यशास्त्र में शुक्लजी का व्यक्तित्व जितना उज्ज्वल है उतना ही उज्ज्वल है पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रिचर्ड्स का व्यक्तित्व । वे बीसवीं शताब्दी अंग्रेज़ी समीक्षा के शलाका पुरुष थे । पाश्चात्य नई समीक्षा के संदर्भ में उनका वही स्थान है जो प्राचीन पाश्चात्य समीक्षा में अरस्तू का है । उनके सिद्धांतों के आधार पर इंग्लैंड में नवीन समीक्षा का सूत्रपात हुआ । अपने पूर्ववर्ती आलोचना-साहित्य की भ्रांत मान्यताओं का पूरा निराकरण करते हुए वैज्ञानिक दृष्टि से उन्होंने कविता की प्रकृति का विश्लेषण किया । नये समीक्षकों में साहित्य के सिद्धांतों को पूर्ण एवं व्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय सिर्फ उन्हीं को ही है ।

टी. एस. इलियट की आलोचना-पद्धति विवरणात्मक एवं सैद्धांतिक थी । लेकिन वे एक व्यवस्थित साहित्य-सिद्धांत प्रस्तुत न कर पाये । पर रिचर्ड्स ने व्यवहारवाद, मनोविज्ञान, सिरा-विज्ञान, दर्शन एवं सौंदर्यशास्त्र के गहन अध्ययन एवं चिंतन के द्वारा पाश्चात्य समीक्षा को पूर्णतः व्यवस्थित कर दिया । कविता के आधारात्मक प्रभावों और पाठकों की प्रतिक्रियाओं और उनके मनोवेगों के रूप-ग्रहण में उनकी अभिरुचि थी । उनका पांडित्य, बौद्धिकता तथा अभिव्यंजना-शैली विलक्षण हैं । शुक्लजी की तरह वे भी सामंजस्यवादी समीक्षक हैं । उनकी समीक्षा-मनोविज्ञान, अर्थ-विज्ञान, व्यवहारवाद, सिरा-विज्ञान आदि का समन्वित रूप है । सचमुच वे पाश्चात्य समीक्षा के युग-द्रष्टा आलोचक है । यह बात अवितर्कित है कि शुक्लजी और रिचर्ड्स आधुनिक समीक्षा की विभूतियाँ हैं । दोनों अपनी अपनी भाषा के आलोचना-क्षेत्र में युगांतकारी हैं । दोनों समीक्षकों ने अहं के विसर्जन एवं तटस्थता से युक्त अखंड मानसिक अवस्था में काव्य की रसनीयता देखी है । इन्हीं के सिद्धांतों के आधार पर परवर्ती काव्य-शास्त्र में कलागत सौंदर्य तथा उसके प्रभाव का गहरा दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत हुआ । पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का परिप्रेक्ष्य, भारतीय काव्य-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य से भिन्न है । इस भिन्नता के बावजूद भी इसकी अंतःचेतना एक ही है । पूर्व और पश्चिम में, विरोधी भावों के सामंजस्य से युक्त व्यवस्थित मानसिक अवस्था की उपलब्धि तथा मन की विशुद्धीकरण-प्रक्रिया में काव्य-सौंदर्य की परख की जा रही है । काव्य की सार्वलौकिकता की कसौटी भी यही है ।

संदर्भग्रंथानुक्रमणिका

संदर्भग्रंथानुक्रमणिका

रामचन्द्रशुक्ल के ग्रंथ

1. गोस्वामी तुलसीदास - नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
2. चिन्तामणि - भाग (1) - इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, 1953.
3. चिन्तामणि - भाग (2) - सरस्वती मन्दिर, वाराणसी, संवत् 2019.
4. चिन्तामणि - भाग (3) - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983 - प्रथम संस्करण
5. जायसी ग्रंथावली (भूमिका) - नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2017 वि. चतुर्थ
6. भ्रमरगीतसार (भूमिका) - रामदास पोडवाल एण्ड सन्स, वाराणसी, 1963, प्रथम संस्करण ।
7. रस-मीमांसा - काशी नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2017, तृतीय संस्करण
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास - नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2040. वि.

संस्कृत के ग्रंथ

1. अभिनव भारती - अभिनवगुप्त - सं. रामकृष्ण कवि,
गायकवाड ओरियन्टल सीरीज़,
बडौदा, सं. 1926 ई.

2. अभिनव भारती - अभिनवगुप्त - भाष्यकार - आचार्य विश्वेश्वर,
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली - प्र. सं. 1960 ई.

3. अलंकार सर्वस्वम् - राजानक रुय्यक -
हिन्दी भाष्यानुवादक -
डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, 1979
चौखंभा संस्कृत संस्थान

4. औचित्य विचार चर्चा - क्षेमेन्द्र, सं. डॉ. मनोहरलाल गौड,
भारत प्रकाशन मन्दिर, अलिगढ़

5. काव्य प्रकाश - मम्मट, सं. डॉ. नगेन्द्र,
राममंडल लिमिटेड,
वाराणसी, सं. 2031 वि.
पंचम संस्करण

6. काव्यादर्श - दंडी - व्याख्याकार -
आचार्य रामचन्द्रमिश्र
चौखंभा विद्याभवन,
वाराणसी - वि. सं. 2015.

7. काव्यमीमांसा - राजशेखर - व्याख्याकार - डॉ. गंगासागर राय, चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी, वि.सं. 2021, प्रथम संस्करण

8. काव्यालंकार - भामह - भाष्यकार - देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् - पटना, 1962.

9. काव्यालंकार - रुद्रट - व्याख्याकार - डॉ. सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, 1965 प्रथम संस्करण ।

10. काव्यालंकारसूत्र - वामन - सं. डॉ. नगेन्द्र - आत्माराम एण्ड सन्स, 1954.

11. ध्वन्यालोक - आनंदवर्धन - व्याख्याकार - आचार्य विश्वेश्वर - ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, वि. सं. 2019 - प्रथम संस्करण ।

12. ध्वन्यालोकलोचन - अभिनवगुप्त - व्याख्याकार - जगन्नाथ पाठक - वि. सं. 2021 प्रथम संस्करण

13. नाट्यशास्त्र - भरत, काशी संस्कृत सीरीज़, 6C, बनारस - 1929

14. रसगंगाधर - पंडितराज जगन्नाथ,
चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी,
वि. सं. 2027, तृतीय संस्करण

15. वक्रोक्तिजीवितम् - कुंतक - व्याख्याकार तथा संपादक
डॉ. दशरथ द्विवेदी,
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
1977 - प्रथम संस्करण

16. सरस्वतीकंठाभरण - भोजराज
नारायण यंत्र,
कलकत्ता - सं. 1894
द्वितीय संस्करण

17. साहित्यदर्पण - विश्वनाथ - हरिदास
टीका, सिद्धांत प्रेस,
कलकत्ता, शक - 1867

18. श्रृंगारप्रकाश - भोजराज,
निर्णय सागर प्रेस
बंबई ।

अन्य लेखकों के ग्रंथ

1. अनुसन्धान और आलोचना - डॉ. नगेन्द्र,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
दिल्ली

2. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल और उनकी कृतियाँ - डॉ. दुर्गाशंकर मिश्र,
हिन्दी साहित्य भंडार,
लखनऊ, 1979 प्रथम संस्करण

3. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल और परवर्ती आलोचना - डॉ. अमरनाथ,
शब्द और शब्द,
दिल्ली

4. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल - व्यक्ति, आलोचक और निबंधकार - डॉ. रामप्रसाद मिश्र,
उषा पब्लिशिंग हाऊस,
जयपुर ।

5. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल के साहित्य-सिद्धांत - रामकृपाल पांडेय,
लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद, 1989.

6. आचार्य रामचंद्रशुक्ल और हिन्दी आलोचना - रामविलास शर्मा
विनोद पुस्तक मंदिर,
आगरा ।

7. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल का काव्य-चिंतन - डॉ. अमरनाथ, शब्द और शब्द, दिल्ली, 1987 प्रथम संस्करण

8. आचार्य रामचंद्रशुक्ल और भारतीय समीक्षा - सं. सुरेशकुमार, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, 1987.

9. आचार्य शुक्ल और पाश्चात्य काव्यालोचन - डॉ. बसंतप्रसादसिंह, राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद, 1991 प्रथम संस्करण ।

10. आज का हिन्दी साहित्य- संवेदना और दृष्टि - रामदरशमिश्र, अभिनव प्रकाशन, 1975, प्रथम संस्करण

11. आत्मनेपद - अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1960 प्रथम संस्करण

12. आधुनिक मनोविज्ञान - लालजीराम शुक्ल साहित्य सेवक कार्यालय, वाराणसी ।

13. आधुनिक समीक्षा - डॉ. भगवतस्वरूपमिश्र, साहित्यसदन, देहरादून, 1972, प्रथम संस्करण ।

14. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - डॉ. नामवरसिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण

15. आधुनिक हिन्दी आलोचना- पर पाश्चात्य प्रभाव - रामचन्द्रप्रसाद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

16. आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास - राजकिशोर कक्कड, एस. चंद आन्ड कंपनी, दिल्ली ।

17. आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास - डॉ. वेंकटशर्मा, आत्माराम आन्ड सन्स, दिल्ली ।

18. आलोचना-इतिहास एवं सिद्धांत - हरिश्चंद्र जायसवाल वीना प्रकाशन, इलाहाबाद

19. आलोचना के सिद्धांत - शिवदानसिंह चौहान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1960 प्रथम संस्करण ।

20. आलोचक रामचन्द्रशुक्ल - सं. गुलाबराय, विजयेन्द्रस्नातक, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1962 - द्वितीय संस्करण ।

21. इतिहास और आलोचना — नामवरसिंह,
नया साहित्य प्रकाशन,
इलाहाबाद ।

22. कविप्रिया — केशवदास,
मातृभाषा मंदिर,
इलाहाबाद ।

23. काव्य और कला — हरद्वरिलाल शर्मा,
भारतीय प्रकाशन मंदिर,
आगरा ।

24. काव्य के रूप — गुलाबराय
आत्माराम एण्ड सन्स,
दिल्ली - 6.

25. काव्यशास्त्र — भगीरथ मिश्र,
पारिजात प्रकाशन,
सागर

26. काव्य-शास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन — भारतभूषण सरोज,
हिन्दी साहित्य केन्द्र,
दिल्ली - 6.

27. कृतिकार — डॉ. नगेन्द्र,
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस,
नई दिल्ली - 1980.

28. नये साहित्य का सौंदर्य-शास्त्र — मुक्तिबोध,
राधाकृष्ण प्रकाशन, 1971.

29. नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक - हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, पटना ।

30. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा - डॉ. नगेन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

31. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत - डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 1965 - प्रथम संस्करण ।

32. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के सिद्धांत - डॉ. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, हरियाणा, साहित्यिक अकादमी, चण्डीगढ़ ।

33. पाश्चात्य काव्यशास्त्र - इतिहास, सिद्धांत और वाद - डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1988 - प्रथम संस्करण ।

34. पाश्चात्य काव्यशास्त्र - देवेन्द्रनाथ शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1987 - द्वितीय संस्करण

35. पाश्चात्य साहित्य-चिंतन - निर्मला जैन, कुसुम बाँठिया, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1990 प्रथम संस्करण ।

36. पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव - डॉ. रवीन्द्रसहाय वर्मा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

37. प्लेटो के काव्य-सिद्धांत - निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 1965 प्रथम संस्करण ।

38. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धांत - डॉ. गणपतिचंद्रगुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971 प्रथम संस्करण ।

39. भारतीय एवं पाश्चात्य समालोचना - नव आकलन - डॉ. गोपीवल्लभ नेमा, भारतीय ग्रंथ निकेतन, नई दिल्ली 1982.

40. भारतीय काव्य-शास्त्र की परंपरा - डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली ।

41. भाषा और संवेदना - रामस्वरूप चतुर्वेदी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1964 - प्रथम संस्करण ।

42. रस और रसास्वादन - हरद्वारिलाल शर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

43. रस-सिद्धांत का पुर्नविवेचन - डॉ. गणपतिचंद्रगुप्त, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1971 - प्रथम संस्करण ।

44. रस-सिद्धांत, स्वरूप विश्लेषण - आनंदप्रकाश दीक्षित,
राजकमल प्रकाशन,
दिल्ली

45. रामचन्द्रशुक्ल - सं. पुष्पा बंसल,
ऋषभ चरण जैन एवं संतति,
नई दिल्ली

46. रामचन्द्रशुक्ल और उनकी चिंतामणि - राजनाथ शर्मा,
विनोद पुस्तक मन्दिर
आगरा ।

47. रामचन्द्रशुक्ल और उनका साहित्य - जयचंद्रराय,
एस चाँद आन्ड कंपनी,
बंबई ।

48. रामचरितमानस - गोस्वामी तुलसीदास,
पं. पृथ्वीराज भार्गव बुक डिप्पो,
बनारस, 1954-तृतीय संस्करण ।

49. रिचर्ड्स के आलोचना-सिद्धांत - शुभदत्त झा,
भारती भवन,
पटना, 1974-द्वितीय संस्करण ।

50. समीक्षा एवं साहित्य-चिंतन - डॉ. बी. बी. सिंह,
शांति प्रकाशन,
इलाहाबाद,
1989-प्रथम संस्करण ।

51. साहित्य का इतिहास-दर्शन - डॉ. नलिनविलोचन शर्मा,
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद,
पटना - 1960-प्रथम संस्करण ।

52. हिन्दी आलोचना, उद्भव और विकास - भगवतस्वरूप मिश्र,
साहित्य-सदन,
देहरादून ।

53. हिन्दी साहित्य का इतिहास- डॉ. नगेन्द्र,
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस,
नई दिल्ली - 1982.

54. हिन्दी के आलोचक - सं. शचीरानी गुर्टू,
आत्माराम एण्ड सन्स,
दिल्ली - 1955.

55. हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी - नंददुलारे वाजपेयी,
लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद - 1991.

56. हिन्दी समीक्षा-स्वरूप और संदर्भ - रामदरश मिश्र,
मैकमिलन एण्ड कंपनी,
दिल्ली, 1974-प्रथम संस्करण ।

57. हिन्दी आलोचना की बीसवीं शताब्दी - डॉ. निर्मला जैन
राधाकृष्ण प्रकाशन,
1992-प्रथम संस्करण ।

मलयालम के ग्रंथ

1. आदिरूपंङल - साहित्यत्तिल ओरु पठनम् - डॉ. एम. लीलावती, केरला भाषा इंस्टिट्यूट, तिरुवनंतपुरम - 1993, प्रथम संस्करण ।

2. काव्यबिंबम् - हिंदियिलुम मलयालत्तिलुम - पि. नारायणकुरुप्प, केरला भाषा इंस्टिट्यूट, 1988, प्रथम संस्करण ।

3. तारतम्यसाहित्य समीक्षा - डॉ. टी. जी. रामचंद्रन पिल्लै, एन बी एस, कोट्टयम, 1987 - प्रथम संस्करण ।

4. निरूपणसाहित्यम् - डॉ. पी. वी. वेलायुधन पिल्लै, एन बी एस, कोट्टयम, 1974-प्रथम संस्करण ।

Works of I.A.RICHARDS

1. Complementarities Uncollected Essays. - Edited by John Paul Russo - Carcanet New Press - Manchester.

2. How to read a page - Routledge and Kegan Paul Ltd.- Broadway House, London - 1961.

3. Practical Criticism - A Study of Literary Judgment. - Routledge amd Kegan Paul Ltd. - Broadway House, London 8th Edition.

4. Principles of Literary Criticism. - Universal Book Stall, New Delhi, 1990 2nd Edition.

5. The Foundations of Aesthetics - with C.K. Ogden and James Wood. - Allen and Unwin - London - 1922.

6. The Meaning of meaning - 'A Study of the influence of language upon thought and of the Science of symbolism' With C.K. Ogden. - Kegan Paul Trench Trubner - London.

Works of Other Authors

1. An Introduction to English Criticism - Birjadish Prasad, Mc. Millan & Co.Ltd, Calcutaa - 1971

2. Contemporary Literary Critics. - Edited by James Vinson, St.Martin's Press, I.N.C. N.York - 1977.

3. Criticism in America - John Paul Pritchard, Lyall Book Depot, Ludhiana - 1970.

4. History and Principles of Literary Criticism - Dr.Raj Pati, Navjeevan Prakashan - Agra.

5. History and Principles of Literary Criticism. - Dr. Raghukul Tilak - Ram Brothers, Karolbagh, 1981 - 4th edition.

6. I.A.Richards - Essays in his honor. - Edited by Reuben Brower, Helen, Vendler, Oxford University Press, N.York 1973.

7. Literary Criticism - Ram Awadh Dwivedi, Dr.Vikramaditya Rai - Sunderlal Jain, Motilal Banarasi Das, Chowk, Varanasi - 1 - 1968 2nd Edition.

8. Literary Criticism - A Short History. - William K.Winsatt & Cleanth Brooks - Oxford and I.B.H. Publishing Co. N.Delhi, 1957.

	Oxford Lectures on Poetry.	- A.C.Bradley, Mc.Millan & Company, London, 1962.
).	Poetics	- Aristotle, Gwalior Incorporated.
l.	Republic	- Plato, Book V. Gwalior Incorporated, Penguin Book Ltd - Harmondsworth, Middlesex.
?.	Selected Essays	- T.S.Eliot - Faber & Faber London, 1930.
3.	The Literary Critics	- George Watson, Penguin Book Ltd - Harmondsworth, Middlesex- England- 1962 Ist Edition.
4.	The making of Literature.	- R.A.Scott James - Secker and Warburg - London - 1963 - 1st Edition.
5.	Twentieth Century Authors.	- Kunitz S.J and Kay Craft, Wilson & Co. 1942.

****